आत्म-कथा

सत्यसमाज संस्थापक—

* स्वामी सत्यभक्त *

प्रकाशकीय

पू. सत्यभक्त जी की यह आत्मकथा है । सत्यभक्तजी के पास समय समय पर अनेक सज्जनों के पत्र आया करते थे कि आप अपना जीवन परिचय हमको लिख भेजिये, इसलिये अनेकबार चिट्ठिओं में टूटा-फूटा परिचय भेजा भी जाता था, पर उससे तो लोगों की प्यास ही बढ़ती थी, इसलिये आत्मकथा लिखने की जरूरत हुई और इसीलिये यह आत्मकथा लिखी गई ।

यद्यपि इस आत्मकथा में अपने जीवन की सारी घटनाओं को साधारण रूप में देने की कोशिश की गई है, फिर भी इसमें इतना मनोवैज्ञानिक चित्रण आ गया है कि पढ़नेवालों को इसमें कथा और दर्शन का आनंद एक साथ ही आता है । जीवन निर्माण की दृष्टि से भी यह ऐसी चीज बन गई है कि लेनेवाला इससे बहुत कुछ ले सकता है ।

करीब आधी आत्मकथा सत्यसन्देश में प्रगट हुई थी और ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं थी जो सत्यसन्देश में से और कुछ पढ़ें चाहे न पढ़ें पर आत्मकथा जरूर पढ़ते थे। सरकार की कृपा से सत्यसन्देश बन्द हो जाने पर सत्यसन्देश के पाठकों को, खासकर आत्मकथा के पाठकों को बड़ा खेद हुआ था; पर इससे एक लाभ यह हुआ कि जो आत्मकथा महिने महिने थोड़ी थोड़ी लिखी जाती थी वह लगातार लिखी जाकर एक साथ पूरी प्रकाशित हो रही है । आशा है पाठक इसका उपयोग करेंगे ।

—प्रकाशक

❀ सत्यभक्त दम्पति ❀

दरबारीलाल सत्यभक्त
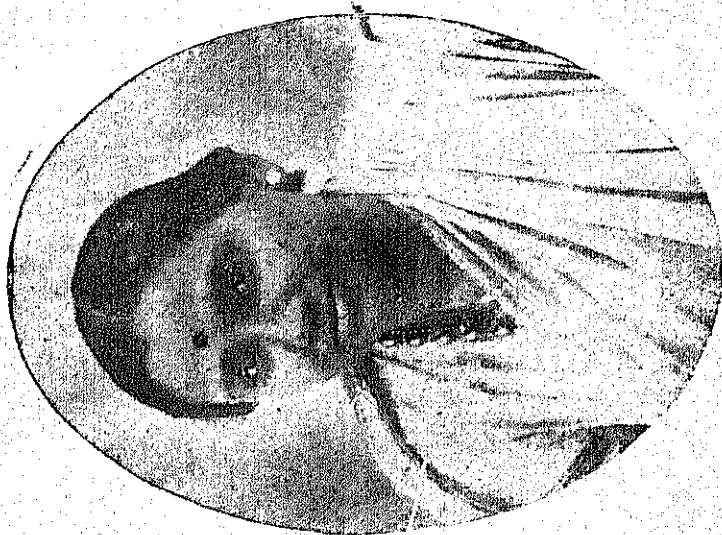
सौ. वीणादेवी सत्यभक्त

आत्म-कथा

लेखक—

सत्यसमाज-संस्थापक

—स्वामी सत्यभक्त

प्रकाशक—

सत्याश्रम वर्धा (सी. पी.)

प्रथमावृत्ति— दिसम्बर १९४०

मूल्य सवा रुपया

प्रकाशक—

सूरजचन्द्र डाँगी.

सत्याश्रम वर्धा (सी. पी.)

मुद्रक—

सत्येश्वर प्रिन्टिंग प्रेस

बोरगांव वर्धा (सी. पी.)

भगवान सत्य * भगवती अहिंसा

मुझ निर्बल के बल हो तुम ही मुझ मूरख के ज्ञान ।
मुझ निर्धन के धन हो तुम ही माता-पिता समान ॥

—अनन्यशरण –सत्यभक्त
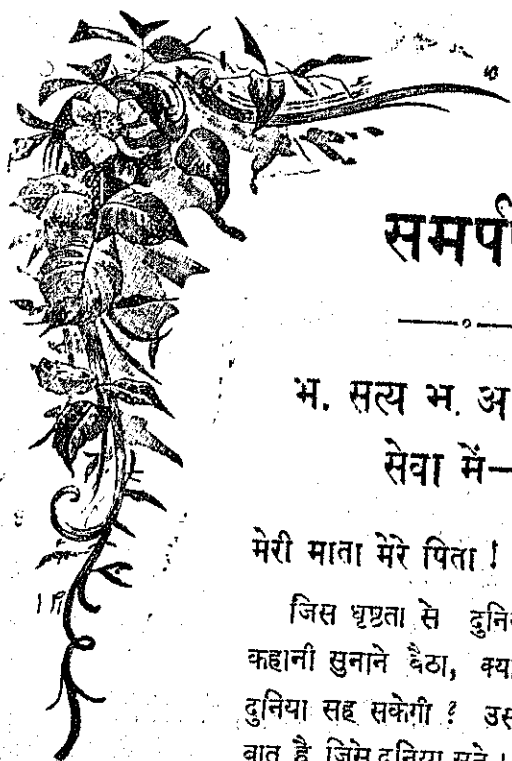
समर्पण

भ. सत्य भ. अहिंसा की
सेवा में—

मेरी माता मेरे पिता !

जिस धृष्टता से दुनिया को अपनी कहानी सुनाने बैठा, क्या वह धृष्टता दुनिया सह सकेगी ? उसमें ऐसी क्या बात है जिसे दुनिया सुने। माता-पिता ही ऐसे होते हैं जो सब कुछ जानते हुए भी बालक की भद्दी कहानियाँ या तुच्छ बातें प्रेम से सुना करते हैं--इसीलिये अपनी यह तुच्छ कहानी तुम्हें ही समर्पण करता हूँ। और किसी को समर्पण करने की हिम्मत ही नहीं होती।

तुम्हारा तुच्छ भक्त—

दरबारी....

विषय सूची

आत्म-कथा

प्रास्ताविक

'एक छोटे से जीवन की आत्मकथा क्या'? इस संकोच में बहुत दिन रहने पर भी अब कुछ निर्लज्जता के साथ आत्मकथा लिखने जो बैठ गया हूं इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि पिछले दिनों में जीवन--परिचय की माँग बहुत आई और पत्र-व्यवहार से जो संक्षिप्त परिचय दिया गया वह सन्तोषप्रद न हो सका। दूसरा कारण यह है कि यह जीवन--कथा आदरणीय न होने पर भी कुछ देने लायक मालूम होती है। इसका कारण यह नहीं है कि आत्मकथा का नायक महान है किन्तु यह है कि वह नायक मूल में अत्यन्त क्षुद्र था। उसके पीछे वंश-परम्परा का बौद्धिक, आर्थिक आदि कोई महत्त्व नहीं है। विशाल कुटुम्बका भी गौरव नहीं है। इसका प्रारम्भ एक अशिक्षित, निर्बल, निर्धन, कीर्तिहीन कुटुम्ब से होता है। वह भी किसी नगर से नहीं किन्तु एक छोटे से खेड़े से।

ऐसा क्षुद्र जीवन अगर महान न बन सके पर कुछ कहने-लायक बन सके तो उससे पाठकों को काफ़ी सामग्री मिल सकती है।

जीवन की छोटी छोटी घटनाएँ कैसे जीवन-धारा बदल देतीं हैं इस विषय की मनोवैज्ञानिक सामग्री तथा अन्य सामग्री भी इस आत्मकथा से थोड़े बहुत अंशों में मिल सकेगी इसलिये भी इस आत्मकथा को लिखने की इच्छा हो गई। कुछ दिन तक तो वह डायरी में ही रही अब वह पाठकों को सुनाई जा रही है।

(१) शैशव

शागरी [सागर सी. पी.] नामक एक छोटे से खेड़े में—जहां न रेल है न पक्की सड़क, न पुलिस का थाना न कोई स्कूल--एक परवार जैन कुटुम्ब रहता था। उसमें चार भाई थे। खाने पीने से खुश थे। कुछ साहुकारी थी इसलिये वह कुटुम्ब कुछ श्रीमान भी गिना जाता था। उनमें एक भाई का नाम था रामलाल। ये ही मेरे पितामह थे। इनके एक ही सन्तान थी जिसका नाम था **नन्हूलाल**। ये ही मेरे पिता जी थे। रामलाल जीके देहान्त होने पर साहुकारी डूबगई और इक-दम ग़रीबी आ गई। इस प्रकार मेरे पिताजी जन्म से ग़रीब रहे। उनका जन्म वि. सं॰ १९२५ का था। उनदिनों नगरों में भी शिक्षण का प्रबन्ध नहीं था फिर उस खेड़े में क्या होता? इसलिये पिताजी बिलकुल नहीं पढ़ सके। वे एक अक्षर भी नहीं लिख सकते थे। सिर्फ़ तेतीस तक गिनती आती थी। इसी बलपर वे अपना हिसाब किताब चलाया करते थे। जब मेरे पितामह का देहान्त हुआ तब पिताजी की उम्र आठ वर्ष की थी। पैसा

न होने से और खेड़े में रहने से उस बाल-विवाह के युग में भी उनकी जल्दी शादी न हुई। शादी के समय वे काफ़ी जवान हो गये थे। उनकी शादी पंचमनगर में हुई थी। पंचमनगर कागज़ के लिये इतिहास में प्रसिद्ध है। भाग्य की बात है कि पिताजी तो निरक्षर थे पर माताजी उस ज़माने के अनुसार काफ़ी पढ़ी लिखी थीं। विवाह के पहिले उनने सिर्फ़ प्रायमरी ही पास न करली थी किन्तु कन्याशाला में मॉनीटरी के कुछ रुपये भी जोड़े थे जो विवाह के काम आये थे। पिताजी कुछ साँवले और साधारण क़द के थे। माताजी काफ़ी गौरवर्ण और कुछ लम्बे क़द की थीं। उनके विवाह के कुछ दिनों बाद मेरी आजी (पितामही) का भी देहान्त हो गया। कुटुम्ब में झगड़े भी खूब होने लगे, ग़रीबी थी ही, इससे ऊबकर पिताजी शाहपुर [सागर, सी. पी.] में आ गये। यहीं **कार्तिक शुक्ला ७ वि. सं. १९५६** को मेरा जन्म हुआ। मेरा पहिले एक भाई और हुआ था जो मर चुका था। मेरे बाद एक बहिन हुई। जिसका नाम था कला या कलावती। उसके बाद माँ बीमार हुईं, लम्बी बीमारी खाई। अन्त में बच न सकीं। मरते समय छः महीने का एक बच्चा हुआ जो कुछ मिनिटों में मर गया। इस समय मेरी अवस्था क़रीब चार वर्ष की थी।

शाहपुर में भी पिताजी की आर्थिक स्थिति सुधर न पाई। ग़रीबी में ही दिन कटे। सुख दुःख में पिताजी को बड़ा भारी सहारा अपनी बड़ी बहिन का था जो दमोह में विवाही गई थीं। उनका बड़ा भारी कुटुम्ब था। वह कुटुम्ब शहर के गणनीय श्रीमंतों

में माना जाता था। परन्तु धीरे धीरे सब लोग मर गये सिर्फ़ मेरी बुआ [पिताजी की बड़ी बहिन] और उनके जेठ का पुत्र बच रहा। साहूकारी सब डूब गई। ऋण रह गया, दूकान में आग लग गई या लूटने के लिये लगादी गई। बुआ के पास रहने का मकान—जो काफ़ी बड़ा था और कुछ स्त्री-धन रह गया। फिर भी वे मेरे पिताजी को मन वचन से और यथाशक्ति धन से सहायता करती थीं। कभी कभी शाहपुर आती थीं। उनका मुझपर बड़ा प्रेम था।

शाहपुर में मेरा शैशवकाल ही व्यतीत हुआ था फिर भी मुझे अनेक बातों का स्मरण है। वहां का मंदिर, दौड़-दौड़ कर रेलगाड़ी देखना, बरसात में बालूके घर बनाना आदि अभी भी याद हैं। कुछ ऐसी बातें भी याद हैं जो मूर्खता नहीं किंतु बालोचित भोलेपन का परिणाम है। इससे बालमनोवृत्ति का पता लगता है। बालक एक तरफ़ बड़े तार्किक होते हैं तो दूसरे तरफ़ श्रद्धालु भी होते हैं। उनकी श्रद्धा का दुरुपयोग न करना चाहिये न तार्किकता का दमन करना चाहिये। ख़ैर, मैं शैशव के हास्यास्पद संस्मरण तो सुना दूं।

एकबार मेरे पिताजी दूध लाये। मेरी आदत थी कि दूध देखा और मुंह लगाया। इससे बचने के लिये उनने कह दिया कि यह दूध नहीं मठ्ठा है। उस समय अविश्वास करने लायक बुद्धि पैदा नहीं हुई थी इसलिये मैंने नाक सिकोड़ ली। थोड़ी देर बाद जब वह गरम किया गया तब पिताजी ने मुझे पीने को

दिया । मैंने कहा—मैं मट्ठा नहीं पीता । पिताजीने कहा- पी तो सही, अब यह दूध हो गया है । मैंने पिया और चकित होकर पिताजी से पूछा, 'मट्ठा दूध कैसे हो गया ?' पिताजी बोले गर्म करने से । उस दिन से मैं समझने लगा कि मट्ठा गरम करने से दूध बन जाता है । यह वैज्ञानिक अन्ध-विश्वास कब नष्ट हुआ इसका स्मरण नहीं है ।

उन दिनों गाँवों में शक्कर का कम प्रचार था और मेरे गरीब घर में तो और भी कम, इस लिये मेरे घर में गुड़ का ही उपयोग होता था । पर गुड़ मुझे अच्छा न लगता था इसलिये प्रायः गुड़ न खाता था । एक दिन माँ ने कहा—क्यों रे, गुरआई दूं ? मैंने यह सोचकर 'हाँ' कह दिया कि गुरआई गुड़ से भिन्न कोई दूसरी चीज़ होगी । मुझे क्या मालूम कि गुरआई यह सामान्य शब्द है जो कि गुड़ शक्कर आदि सभी मीठी चीज़ों के लिये प्रयुक्त होता है । इसलिये माँ ने जब गुड़ परोसा तब यह सामान्य-विशेष-तत्त्व मेरी समझ में न आनेसे मैं भौंचक्का सा रह गया ।

एकबार मैंने माँ से कहा कि मुझे खेलने के लिये सुपलिया (छोटा सूपा) मँगादे । माँने पिताजी से कहा—बसोरिन को कोई पुराना कपड़ा देकर सुपलिया बनवा लाना । दो तीन दिन बाद सुपलिया आ गई । मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि कपड़े की सुपलिया कैसे बन गई ? कपड़े के बदले में सुपलिया आ गई है यह बात मैं न समझ सका । मैं तो यही समझता रहा कि कपड़े की सुपलिया बन गई है ।

एकबार मेरी माँ ने कपड़े रसी में डाले। (रसी एक जाति की पीली सी मिट्टी थी जो पुराने ज़माने में सोडा की जगह कपड़े धोने के काम में लाई जाती थी) रसी और पीली मिट्टी का भेद न समझ कर मैं मानने लगा कि पीली मिट्टी से कपड़े साफ़ होते हैं। इसलिये जब मैं खंती [ऐसे बडे बड़े गड्ढे जो बर्सात में पानी भर जाने से पल्वल या छोटे तालाब से बन जाते हैं] में नहाने गया तो वहां की मिट्टी में अपने कपड़े रगड़ने लगा। जब पिताजी ने फटकारा तब मैं चकित होकर सोचने लगा कि घर में तो ये मिट्टी में कपड़े डालते हैं पर यहां मिट्टी लगाने से क्यों रोकते हैं ?

उन दिनों दो तीन बार रेल में बैठने का काम पड़ा था। शाहपुर से दमोह तीन ही स्टेशन है। इसलिये मुश्किल से एक ही घंटा गाड़ी में बैठ पाता, जब उतरता तब रोते मुँह से उतरता। मन ही मन कहता—और आदमी तो बैठे हुए हैं फिर हमें ही क्यों उतारा जाता है ? मैं इतना भी न समझता था कि रेलगाड़ी में मौज के लिये नहीं बैठा जाता है किन्तु अपने इच्छित स्थान पर जाने के लिये बैठा जाता है।

जो लोग मुझ से पहिले गाड़ी में बैठे होते और मेरे उतरने पर भी नहीं उतरते और बिस्तर बिछाये लेटे रहते उन्हें मैं रेल का आदमी समझता था। मेरे विचार में वे लोग ज़िन्दगी-भर रेल में ही रहते थे इसलिये उनके सुख का पार न था। आज तो रेलगाडी से जल्दी पिंड छुड़ाने के लिये अधिक पैसे देकर भी डाक या

एक्सप्रेस गाड़ी में बैठता हूं पर उन दिनों अगर पैसेन्जर गाड़ी का किराया डाकगाड़ी से अधिक होता तो अधिक किराया देकर पैसेन्जर गाड़ी में बैठता जिससे बैठने का अधिक सुख मिलता।

शैशव के भोलेपन के कुछ और संस्मरण हैं जो इतने विनोदी नहीं हैं। पिताजी के कथनानुसार शैशव में मैं बहुत ध्यानी था। मकान के किसी कोने में ध्यानी की तरह आसन लगाकर मैं घंटों बैठा करता था। क्या सोचता था यह तो कुछ याद नहीं है, यह केवल एक प्रकार की नकल ही हो सकती है। जैन-मन्दिर में लोगों को सामायिक करते देखकर मैंने उसकी नकल करना सीख लिया होगा।

माताजी के देहान्त के समय के चित्र मेरे सामने अभी भी झूलते हैं। मृत्यु के पहिले वे कई महिने बीमार रहीं थीं। पर एक दिन मैंने देखा कि वे उठ बैठीं। मेरी बुआ-जो बीमारी में सहायता पहुँचाने आई थीं --ने उनका सिर अच्छी तरह धोया और उनने भोजन भी किया। उस दिन मैं बहुत खुश हुआ। पर दूसरे दिन सुबह दतौन करते समय उनके दाँत बँध गये। पिताजी माँ को पुकारते थे। दाँतों से दबी हुई दतौन को खींचने की कोशिश करते थे। मैं पास में खड़ा खड़ा आश्चर्य से देखता था कि यह सब क्या हो रहा है?

माँ को गर्भ था और छः महीने का गर्भ शायद उसी दिन गिरा था। वह बच्चा कुछ समय जीकर मर गया था। रंग कुछ ललाई लिये हुए था, मरने से अकड़ गया था, इस प्रकार वह

छोटासा पुतला बन गया था। मैंने जब देखा तब यह कोई बच्चा है यह मैं नहीं समझा। मैं तो उसे पुतला समझकर लालच की नज़र से देखता रहा और सोचता रहा कि ये स्त्रियाँ चली जाँयँ तो मैं इसे ले भागूँ। पर स्त्रियाँ गईं नहीं और मुझे निराश होकर बाहर आना पड़ा।

इसके बाद मुझे इतना ही याद है कि माता जी को लोग अरथी पर बांधने लगे। लाल कपड़े से उन्हें ढँक दिया। पहिले तो मैं आश्चर्य और जिज्ञासा से देखता रहा। मरना किसे कहते हैं यह तो मैं जानता ही न था परन्तु जब लोग अर्थी उठाने लगे तब मेरा आश्चर्य शोक बन गया और मैं ज़ोर ज़ोर से रोने लगा। एक पड़ोसिन मुझे गोद में लेकर दूसरी जगह चली गई। माताजी का क्या हुआ? इसका मुझे पता न लगा।

मुझे स्मरण तो नहीं है परन्तु पिता जी कहा करते थे कि 'गुमानो' नाम की एक कृषक महिला शैशव में मुझ से बहुत प्यार करती थी और दूध पिलाने के सिवाय धात्री के सारे काम वही करती थी। मेरे दमोह आने के बाद मुझे उसके दर्शन हुए थे। उसने मेरे लालन-पालन की बात कही थी, प्रेम भी बताया था। कुछ श्याम वर्ण, मँझला कद और साधारण मोटा शरीर अभी भी मेरी आँखों के सामने झूलता है। और उसके विषय में भक्तिमय मोह के संस्कार अभी तक निर्मूल नहीं हुए हैं। कदाचित् आज उसके दर्शन हो जाँयँ तो सम्भवतः मातृदर्शन कैसी प्रसन्नता हो।

यह समझते हुए भी कि जीवन तो 'नदी नाव संयोग' है 'पंखी रैन बसेरा' है यहां कौन किसका है? संपर्क में आये

हुए लोगों की छाप मिटती नहीं है। वैर की छाप मिटाने को तो बुद्धि कहती है, दिल कहे या न कहे, पर उपकार और सेवा की छाप मिटाने को न तो बुद्धि कहती है न दिल। निर्मोहता के नामपर अगर कृतज्ञता भी मिट जाय तब कहना चाहिये कि जीवन मिट गया या मनुष्यत्व मिट गया फिर सन्तपन की तो बात ही दूर है।

(२) दमोह में आगमन

माता के देहान्त के बाद मुझ और मेरी बहिन को लेकर पिता जी दमोह आ गये। यहाँ बुआ की कृपा से हमें खाने पीने का कोई कष्ट न था इसलिये माँ को बिलकुल भूल गये। नया गांव होने से और संकोची स्वभाव होने से मैं घर के बाहर न निकलता था। बहिन के साथ घर के एक भाग में खेला करता था। बड़ा से बड़ा खेल था देवताओं की पूजा। घर के पिछवाड़े भाग में जाकर मैं मिट्टी सानता और उसकी छोटी छोटी सैकड़ों पिंडियाँ बनाता। तब हम दोनों भाई बहिन उन पिंडियों की घंटों पूजा करते। घंटों गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाते रहते। जो कुछ बोलते उसमें न कोई भाषा होती न कोई शब्द या अक्षर, अर्थहीन आवाज़ों का प्रवाह होता। जब तक मैं स्कूल नहीं गया भाई बहिन का यही खेल चलता रहा। इससे यह समझता हूं कि भक्ति के संस्कार शैशव अवस्था में भी काफ़ी पड़ चुके थे।

मुझे मिठाई खाने की बहुत आदत थी। पिताजी ने शाहपुर से ही यह आदत डलवादी थी। शाहपुर में नारायण नामका एक

मिठाई वाला था। वह मुझे प्रतिदिन सुबह एक पेड़ा दिया करता था। यह तो मुझे मालूम न था कि बाज़ार के दिन वह सात दिन के सात पैसे मेरे पिताजी से वसूल कर लेता था और गरीबी में भी पिताजी मेरा यह टेक्स चुकाते थे, मैं तो समझता था कि मुझे वह चाहता है इसलिये पेड़े खिलाता है। बच्चों के समाज-शास्त्र के अनुसार प्रेम करने का भी टेक्स होता है। खैर, दूसरा एक मुफ्त में मिठाई खिलाने वाला भी था। वह था पास के मन्दिर का लँगड़ा बाबा। उसका छोटा सा मन्दिर मेरे घर के पास ही था। पूजा की घंटी बजते ही मैं मंदिर में दौड़ जाता था और मेरी बहिन भी खिसकते खिसकते पहुँच जाती थी। हम लोग आशाभरी निगाहों से आरती देखते। आरती और बताशों की रकाबी अभी भी आँखों में झूलती है पर ठाकुरजी की सूरत बिलकुल याद नहीं आती; यह भी पता नहीं कि वह राम का, कृष्ण का या हनुमान का किस का मंदिर था ? हाँ वह जैन मन्दिर नहीं था क्योंकि उसको घर के लोग अपना मंदिर नहीं कहते थे। खैर, इस प्रकार वहाँ मुझे दो बताशे मिलते थे। मिठाई खाने की यह आदत दमोह में भी बनी रही। दाल और शाक के साथ मैं रोटी खा ही नहीं सकता था। गुड़ भी नहीं खाता था। पेड़े इतने नहीं मिल सकते थे कि दोनों बार उन्हीं के साथ रोटी खाऊँ इसलिये एक नया तरीका यह निकाला था कि रोटी के ऊपर थोड़ी सी शक्कर डाल कर थोड़ा सा पानी डाल लेता और पूरी रोटी शक्कर से चिपड़ कर पुंगी बनाकर खा लेता। यहाँ भी पिताजी एक पैसे का एक पेड़ा प्रतिदिन सुबह ला देते परन्तु उसे रोटी खाने के समय तक सुरक्षित रखना मेरी शक्ति

के बाहर था। जब कभी सुबह मिठाई न मिलती तब मैं रोटी खाने के समय तक ज़रूर ले लेता तब उस पेड़े के साथ ही रोटी खाता इस प्रकार प्रतिदिन मिठाई खाने पर भी मुझे यह असन्तोष सदा रहता था कि भर पेट मिठाई कभी नहीं मिलपाती जब कि मैं प्रतिदिन भर पेट मिठाई खाना चाहता था। अन्त में मैंने भर पेट मिठाई खाने का एक सस्ता तरीका निकाला। जब रोटी खाने के समय पेड़ा मिलता तब मैं पहिले दाल शाक के साथ कुछ रोटियाँ खालेता फिर आधे पेड़े के छोटे छोटे टुकड़ों के साथ रोटी खाता इस प्रकार जब मिठाई के साथ रोटी से पेट भर जाता तब बचा हुआ आधा पेड़ा कोरा खाजाता इस प्रकार एक ही पेड़े में भर पेट मिठाई खाने का अनुभव हो जाता।

एक दिन पिताजी कहीं बाहर गये थे। इसलिये दिनभर मिठाई न मिली। वे रात को आये तो मैंने मिठाई का तकाज़ा किया। उनने कहा-सुबह ले देंगे परन्तु आधी से अधिक रात्रि के लम्बे समय तक के लिये मिठाई उधार रखने की साहुकारी करने के लिये मैं तैयार न हो सका। इसलिये जब तक मिठाई न मिली तब तक न मैं सोया न मैंने पिताजी को सोने दिया। अन्त में पिताजी उठे, मिठाईवाले को जगाकर मिठाई लाये तब कहीं मैं शान्त हुआ। बाल्यकाल की वह निर्दयता, स्वार्थपरता और जिह्वालोलुपता की याद आते ही अब हँसी तो आती ही है और पिताजी के सन्तान-वात्सल्य से भक्ति भी पैदा होती है पर अपनी उस अमनुष्यता पर लज्जा भी कम नहीं आती। 'मनुष्य जानवर का विकसित रूप है' डार्विन के इस सिद्धान्त पर विश्वास करने को जी चाहता है।

मिठाई खिलाने के कारण मेरी बुआ मेरे पिताजी को बहुत फटकारती। कभी कभी फटकार कटु शब्दों के कारण सीमातीत और असह्य हो जाती थी। पर वाहरे सन्तान-प्रेम, मेरे पिताजी वह सब सह जाते और मुझे मिठाई खिलाते। परन्तु जब बात बहुत बढ़ गई तब पिताजी ने मुझे सिखा दिया कि तुम पैसा ले जाया करो और बाहर ही मिठाई खा लिया करो। मैं ऐसा ही करने लगा पर एक ही पेड़े में भरपेट मिठाई खाने का जो आविष्कार किया था वह व्यर्थ हो गया।

मिठाई की मुझे इतनी आसक्ति थी कि मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि कोई आदमी ऐसा भी हो सकता है जिसे मिठाई से प्रेम न हो। एकबार एक लड़की ने कहा कि मेरे पिता मिठाई के लिये पैसा देते हैं पर मैं कभी मिठाई नहीं खाती। मैं उस समय झूठ बोलने और अविश्वास करने लायक बुद्धिमान नहीं हुआ था इस-लिये उस लड़की की बात पर अविश्वास तो न कर सका पर आश्चर्य से यह अवश्य सोचने लगा कि क्या इसके जीभ नहीं है या बिलकुल खराब हो गई है। उसकी समझदारी और संयमशीलता को मैं न समझ सका। मैंने उसे उसकी जड़ता ही समझा।

मिठाई खाने की इस आदतने मुझे बहुत नुकसान पहुँचाया। मैं लम्बे समय को बीमार हुआ। दाँत भी खराब हो गये परन्तु आदत न छूटी। वह छूटी तब। जब मैं सागर पाठशाला में पढ़ने चला गया। जिह्वा के ऊपर मिठाई के ये संस्कार आज भी बने हुए हैं। परन्तु मन में इतना संयम आ गया है कि वर्षों मिठाई न मिले

तोभी कुछ अशान्ति नहीं माल्रूम होती और महीनों तो खाता भी नहीं हूं।

पिताजी मेरे लिये पिता कभी नहीं बने वे माता की तरह वात्सल्य-मूर्ति ही रहे। उनने अनुशासन कभी नहीं किया। इस लाड़प्यार के कारण मेरी प्रकृति उग्र और अभिमानी हो गई थी। बात बात में रिसा जाता था। अगर रोटी में पाँच मिनिट की देर हो जाती तो मैं उठ खड़ा होता। कोई ज़रासी बात कह दे तो गृह-त्याग की धमकी देकर भाग निकलता। पिताजी बहुतसी बातों में कठोर और निर्भय थे पर इस विषय में बहुत कोमल थे। मैं उनकी आशाओं का केन्द्र था। मेरा मुँह देखकर ही उनने बत्तीस वर्ष की उम्र में विधुर होने पर भी शादी नहीं की। उनके इस प्रेम और तप का मूल्य मैं क्या समझता ? बालोचित निर्दयता से उन्हें सताया करता था।

यद्यपि हम भाई बहिन में बहुत प्रेम था फिर भी हम दोनों एक बात में काफ़ी ईर्ष्या रखते थे। रात में सोते समय हम दोनों ही इस बात की कोशिश करते कि पिताजी का मुँह हमारी तरफ़ हो। पिताजी बीच में सोते थे, अब अगर वे अपना मुँह मेरी तरफ़ करते थे तो बहिन रोती चिल्लाती थी और बहिन की तरफ़ मुँह करते तो मैं रोता चिल्लाता था। अन्त में उन्हें चित लेटना पड़ता। कहीं वे दूसरी तरफ़ करवट न लेलें इसलिये हम दोनों ही उनके पेट पर पैर रख कर सोते।

बाज़ार में जाते समय भी हम उनकी परे- शानी खूब बढ़ा देते। पिताजी अनाज की दूकान करते थे। इतनी पूँजी नहीं थी

सह लेता पर छुट्टी माँगने की हिम्मत न कर पाता। बहुत दिनों बाद मैं समझा कि स्कूल में पेशाब लगना कोई पाप नहीं है। मेरी सहज बुद्धि ने न जाने कैसे यह नियम मान लिया था कि किसी अच्छे काम में जाने पर पेशाब लगना, टट्टी लगना भद्दी बात है। ऐसे काम में अच्छी तरह सब बातों से निबट कर जाना चाहिये। इस मनमाने नियम के कारण स्कूल में पेशाब लगने पर मैं अपने को अपराधी समझता, शर्मिंदा होता और अन्त में घृणापात्र बनता। पर जब मालूम हुआ कि यह अपराध नहीं है तब छुट्टी माँगने लगा। पहिली बार जब मैंने पेशाब की छुट्टी माँगी थी तब मास्टर ने पीठ ठोककर मुझे शाबाशी दी थी, मानों मैंने बड़ी दिग्विजय की हो। इस विषय का बुद्धूपन समाप्त हो जाने पर भी उसके कुछ अच्छे संस्कार अभी भी पड़े हुए हैं। विशेष परिस्थिति को छोड़ कर मैं इस बात की कोशिश करता हूं कि बाहर जाने पर मुझे कोई शारीरिक बाधा न हो।

स्कूल से आने पर मेरी बहिन स्वागत करती [तब पेशाब की छुट्टी माँगना सीख गया था] मेरे मुँह पर हाथ फेरती और बुआ से कहती— भैया, स्कूल में दिन भर पढ़ते पढ़ते थक गया है मैं उसे अपने हाथ की रोटी खिलाऊँगी। वह मेरे लिये रुपये बराबर छोटी छोटी रोटियाँ बनाकर रखती थी—यद्यपि उनमें आड़े टेढ़े बेलने के सिवाय उसका और कोई पुरुषार्थ न था फिर भी वह उसी की रोटियाँ कहलातीं और मेरे लिये रिज़र्व रहतीं। परन्तु आखिर वह भी चल बसी उसके पेट में फोड़ा हुआ, वह कई महिने बीमार

रही, मैंने बालक होने पर भी उसकी सेवा में काफ़ी भाग लिया परन्तु वह न बची। एक तरह से मैं अकेला रह गया।

हिन्दी स्कूल के कोई विशेष संस्मरण नहीं हैं। मास्टरों की अयोग्यता और क्रूरता के अवश्य कुछ संस्मरण हैं, बेतों की मार सब को भोगना पड़ती थी। रटने के सिवाय पढ़ने का और कोई साधन न था। बुद्धि पर कोई ज़ोर नहीं दिया जाता था।

एक बार मेरी क्लास के एक मास्टर ने पूछा हरिण किसे कहते हैं। सभी विद्यार्थी हरिण जानते थे, प्रायः सभीने हरिण देखा था इसलिये सब ने अपने अपने शब्दों में हरिण का चित्र खींचा पर मास्टर को न जँचा। जब मेरा नम्बर आया तब मैंने कहा— हरिण मृगको कहते हैं। जैन तीर्थंकरों के चिह्नों में यह शान्तिनाथ का चिन्ह माना जाता है वहीं से मैंने यह शब्द सीखा था। मेरी इस पंडिताई से मास्टर बहुत खुश हुए और मेरा नम्बर ऊँचा हो गया। फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि हरिण को हम सब समझते थे पर मृग को शायद कोई नहीं समझता था।

स्कूलों में एक आचरण-बुक रहती है। अब मुझे मालूम नहीं परन्तु मेरे समय में कम से कम मेरे स्कूल के मास्टर इसका अर्थ नहीं समझते थे। पढ़ने में जिस लड़के का जैसा नम्बर होता उसका आचरण वैसा ही समझा जाता। लड़का कितना भी सदाचारी हो परन्तु पढ़ने में ठीक न हो तो उसका आचारण खराब लिखा जाता था। आचरण की चार श्रेणियाँ थीं। उत्तम, अच्छा, मध्यम, खराब। मैं उत्तम या अच्छा श्रेणी में रहता था। एक बार मैं दो महिने

तक खूब बीमार रहा। बाद में जब स्कूल में आया तो अनुपस्थिति के कारण मेरा नम्बर नीचा हो गया था इसलिये मेरी आचरण-बुक में लिखा गया 'खराब'। 'बीमार होना भी एक पाप है' इस सिद्धान्त के अनुसार पापी समझ कर मास्टर ने मेरा आचरण खराब लिखा हो इतनी तत्त्वज्ञता मास्टर में नहीं थी। इसका कारण सिर्फ आचरण-बुक के उपयोग का अज्ञान था।

यहाँ स्कूल की मार के विषय में लिखना अनुचित न होगा। कई मास्टर वास्तव में बहुत क्रूर थे, कई बहुत दयालु। दयालु मास्टरों से हम बहुत प्रेम करते थे और उनकी शुभचिन्तना किया करते थे। एक मास्टर बहुत क्रूर था इसलिये भगवान से उसके मर जाने, बीमार हो जाने आदि की प्रार्थना किया करते थे। वह प्रति-दिन नये नये बेंत लाता था जो कि मारते मारते टूट जाते थे। मार के प्रभुत्वने मेरे हृदय को क्रूर बना दिया था और बड़प्पन का सम्बन्ध प्रेम से नहीं क्रूरता से कर दिया था। जब मैं घर आता तब एक हण्टर बनाता और दीवारों खूंटों खंभों आदि को खूब मारता और कहता-क्यों रे, तुम लोग याद नहीं करते? मेरा कहना नहीं मानते? और सोचता-आज मैं खंभों को मारता हूं पर क्या वह दिन न आयगा जब मैं लड़कों को मारूँगा? मेरे स्कूलने मास्टरत्व का गौरव मुझे इसी रूप में बताया था।

यहाँ भी पिताजी की एक बात याद आती है कि अगर उन्हें मालूम हो जाता कि मुझे किसी मास्टर ने मारा है तो दूसरे दिन वे स्कूल पहुंच जाते और रो रो कर मास्टर को समझाते कि अपने लड़के को मैंने कैसे दुःखों में प्यार से पाला है। इससे

स्कूल में मुझे कुछ सुविधा असुविधा तो नहीं हुई और यह अच्छा ही हुआ पर पिताजी की ममता की छाप दिल पर अवश्य गहरी हो गई।

धर्म-शिक्षण

हिन्दी स्कूल की पढ़ाई के दिनों में धर्म-शिक्षण की पढ़ाई भी होती थी। पंचायत ने एक जैन पाठशाला खोल रक्खी थी उसी में मैं जैन-बाल गुटका, इष्ट छत्तीसी, मंगल पूजा-प्रक्षाल के पाठ आदि पढ़ता था। इसी से मैं समझता था कि मैं भी कुछ पढ़ा हूं।

हां, इधर उधर से कुछ भजन भी सीख लिये थे और पर्युषण में उनका खूब प्रदर्शन भी करता था। दि. जैनियों में रात्रि में शास्त्र-प्रवचन के बाद भजन आदि कहने का रिवाज़ है। दमोह में चार मंदिरों में शास्त्र बँचता था और मैं क्रम क्रमसे चारों मन्दिरों में भजन कहता था इससे लोगों की खासकर स्त्रियों की नज़र में मैं बहुत ऊंचा उठगया था। जब बूढ़ी स्त्रियाँ कहतीं कि "देखो तो नन्नू का लड़का कैसा होश्यार है, बिना माँ का होने पर भी नन्नू ने अपने लड़के को पाल पोस कर होश्यार बना लिया है, ग़रीब और अपढ़ का लड़का है पर कैसा चतुर है?" तब मैं आसमान में विहार करने लगता। मेरे पिताजी की छाती भी फूली न समाती।

इसके बाद पंडित कहलाने का मैंने दूसरा तरीक़ा निकाला। मैं पद्मपुराण का स्वाध्याय करने लगा। कथा तो दिलचस्प थी ही और मुझ में भावुकता भी काफ़ी थी इसलिये जब अञ्जना देवी

की कष्टकथा पढ़ता, सीताहरण और सीता परित्याग की बात पढ़ता तब खूब रोता। सीता और अञ्जना पर मेरी इतनी श्रद्धा हो गई थी कि मैं उन्हें राम-चन्द्र आदि से बहुत ऊँचा समझता था। और मन ही मन कल्पना करता था कि अगर मैं उनके पास होता तो उनकी माता की तरह पूजा करता, सेवा करता और जीवन देकर भी उन्हें सुखी बनाता। सीता और अञ्जना के चरित्र ने मेरे हृदय पर इतनी गहरी छाप मारी कि नारी जाति का अपमान मेरे लिये असह्य हो गया। स्त्रियों के विषय में विशेष सन्मान के भाव मुझे वहीं से मिले। अञ्जना के साथ पवनञ्जय ने जो नीचतापूर्ण व्यवहार किया उसमें मुझे पुरुषत्व का मदोन्माद ही दिखाई दिया और पुरुषत्व के मद से मुझे घृणा हो गई। नारियों के पक्ष-समर्थन का कुछ उत्कट रूप जो मेरे जीवन में दिखाई दिया और कुछ अंश में अभी भी दिखाई देता है उसका बीज उसी समय पड़ा था।

ख़ैर, मैं पंडित कहलाने के लिये मंदिर में पद्मपुराण का स्वाध्याय करता और जब कोई स्त्री पास में आकर बैठ जाती तब ज़ोर ज़ोर से शास्त्र पढ़ने लगता। वह घर के काम से चली जाती और दूसरी आ जाती तो उसे सुनाता इस प्रकार बाल्यावस्था में ही स्त्रियों का पंडित बन जाने का गौरव अनुभव करता।

इससे इतना फ़ायदा अवश्य हुआ कि ज्ञान न होने पर भी दूसरों के सामने बाँचने बोलने की हिम्मत आ गई। क़रीब ग्यारह वर्ष की उम्र तक मैं ऐसा ही पंडित (?) बना रहा। एक धार्मिक बालक में जो भावुकता चाहिये वह मुझ में आ गई थी।

मन्दिर में भजन पढ़ने आरती करते हुए नाचने आदि का भी पूरा शौक था। यद्यपि नाचने गाने की कला में बिलकुल शून्य था।

कुछ न समझने पर भी जैन-धर्म और जैन-शास्त्रों पर मेरी श्रद्धा असीम थी। मैं व्यवहार की भी हर एक बात का विचार शास्त्र से किया करता था। शास्त्र में लिखे न होने पर मैं प्राकृतिक अनिवार्य नियमों पर भी विश्वास न करता था।

एक बार एक मित्र से (भाई बाबूलाल से) मेरा इस विषय में विवाद छिड़गया कि बिना सम्भोग के सन्तान हो सकती है या नहीं? मेरा कहना था कि सन्तान के लिये विवाह हो जाना ही काफ़ी है सम्भोग की कोई ज़रूरत नहीं। विवाह न होने पर केवल सम्भोग से सन्तान हो सकती है और सम्भोग न होने पर केवल विवाह से सन्तान हो सकती है। मेरा मित्र सन्तान के लिये सम्भोग अनिवार्य मानता था पर मेरी दलील यह थी कि "यदि सन्तान के लिये सम्भोग अनिवार्य होता तो पद्मपुराण में उसका जिक्र ज़रूर आता। सीताजीके दो पुत्र हुए पर राम-सीता में सम्भोग हुआ हो ऐसा जिक्र शास्त्र में कहीं नहीं आया, फिर राम-सीता सरीखे लोकोत्तर व्यक्ति सम्भोग सरीखी घृणित क्रिया कैसे कर सकते हैं, इससे सिद्ध होता है कि बिना सम्भोग के सन्तान पैदा हो सकती है।

यह थी मेरी दलील, जिसके बल पर मैं अपने मित्र को हरा देता था और मेरे इस विशाल पांडित्य [?] के आगे मेरे मित्र को हार मान लेना पड़ती थी अर्थात् चुप हो जाना पड़ता था। धर्म-

शास्त्र के विषय में मैं ऐसा ही अन्ध-श्रद्धालु था। इसी अन्ध-श्रद्धा के कारण १३-१४ वर्ष की उम्र तक मेरा वह अज्ञान बना रहा।

यद्यपि शास्त्रों के विषय में ऐसी अन्धश्रद्धा के कारण मैं व्यवहारशून्य बन गया था पर बहुत सी बातों में शास्त्रों का अच्छा परिणाम भी हुआ। जैन पद्मपुराण में मुनियों का जिक्र आता था कि अमुक मुनि ने तपस्या की, उपसर्ग जीते और केवलज्ञान पाया देवेन्द्रादि आये। मैं सोचता था आज हम उन्हीं मुनियों की पूजा करते हैं। एक दिन वे भी साधारण गृहस्थ थे। यदि साधारण गृहस्थ त्याग और तप से भगवान बन सकता है तो मैं क्यों नहीं बन सकता, मैं भी भगवान बनूँगा।

पर अवसर्पिणीवाद इस विचार-धारा को टक्कर मारता था। इसलिये मैं सोचता था कि उनके बड़े शरीर थे और मज़बूत थे, वह चौथा काल था जहां चाहे केवली और ऋद्धिधारी मुनियों के दर्शन होते थे आज कल यह सब कहां है ? इसलिये मैं क्या कर सकूंगा ? इस प्रकार धर्म-शास्त्र की एक बात जहां मुझे उन्नति करने के लिये उत्साहित करती वहां पंचम काल चौथेकाल का भेद-अवसर्पिणीवाद-मेरे उत्साह पर पानी फेर देता।

फिर भी इतना प्रभाव तो पड़ ही जाता था कि मैं भी कुछ न कुछ उन्नति कर सकता हूँ। पंचम काल में मोक्ष का द्वार बन्द है इसलिये केवल- ज्ञान न पा सकूंगा उसके लिये विदेहों में पैदा होकर कोशिश करूंगा, अगर स्वर्ग मिला तो वहां से मरकर विदेह पहुँचूंगा वहां सीमन्धरादि तीर्थंकरों की वन्दना करूंगा, अनेक

मुनिराजों के दर्शन करूंगा, बड़ा आनन्द आयगा । जब भी कभी मन्दिर में पुराण पढ़ने बैठता तभी इस प्रकार के जाग्रत स्वप्नों में मेरा हृदय भर जाता ।

पुराणों के स्वाध्यायने जैन मुनियों के विषय में अटूट श्रद्धा पैदा करदी थी और उनके कठोर और निर्दोष जीवन की, उनकी अपरिमित शक्तियों की छाप हृदय पर लगा दी थी। इस का परिणाम यह हुआ कि पीछे जब समाज-सेवा के क्षेत्र में आया तब मुनिवेषियों की त्रुटियों और चालाकियों को सह न सका इसलिये उनका प्रचंड समालोचक बन गया । जैन-जगत् के सम्पादक बनने पर मुनिवेषियों के विरोध में जो प्रचंड आन्दोलन किया था उसके कारणों में बाल्यावस्था के ये संस्कार मुख्य थे ।

ग़रीबी का अनुभव

मेरे पिताजी काफ़ी ग़रीब थे । अगर बुआने हम लोगों को सहारा न दिया होता तो ज़िन्दे तो रहते पर ग़रीबी के कष्ट खूब बढ़ जाते । शाहपुर में जब माताजी का देहान्त हुआ उस समय पिताजी के पास क्या पूँजी थी और दिन-पानी (मृत्युभोज) का क्या कैसा हुआ मुझे नहीं मालूम, पर जब पिताजी मुझे और मेरी छोटी बहिन को लेकर दमोह आये तब उनके कथनानुसार उनके पास एक रुपया और कुछ पैसे थे । मेरी बुआ का घर बड़ा था और उन्हीं के चौके में हम लोग भोजन करते थे इसलिये रहने का खानेपीने का कोई कष्ट न हुआ । इस प्रकार अपनी बुआ के असीम वात्सल्य से मैं माताजी को भूल गया ।

परन्तु घर में ग़रीबी कुछ कम नहीं थी। बुआ के पास सम्पत्ति बच न रही थी। पहिले ही चोरी और मुक़दमेबाजी में धन समाप्त हो गया था, दूकान आग लगाकर लूटी जा चुकी थी दुर्भाग्य से सब आदमी मर गये थे सिर्फ़ मेरी बुआ और उनकी जेठानी के पुत्र मूलचन्दजी बच रहे थे। डेढ़ वर्ष की उम्र से बुआजी ने उन्हें अपने पुत्र की तरह पाला था इसलिये घर में बुआ का ही एक--छत्र शासन था। यही कारण है कि इस ग़रीबी में भी बुआजी ने जब हम तीन आदमियों का बोझ उठाया तब मूलचन्द्र जी ने चूँ भी न किया। इतना ही नहीं, किन्तु उनने हम लोगों से निच्छल प्रेम किया। बुआ के कारण अगर मूलचन्दजी कुछ कह न पाते तो भी हम लोगों से प्रेम करने के लिये वे बाध्य नहीं किये जा सकते थे। वास्तव में उनकी यह उदारता थी कि हमारे साथ उनका व्यवहार और हृदय सगे भाई की तरह रहा। मैं उन्हें दद्दा कहा करता था उन्हीं के कारण मेरा नाम दरबारीलाल हो गया। अन्यथा शाहपुर में मेरा नाम मूलचन्द्र था। मेरी बुआ जेठानी के पुत्र का नाम लेना नहीं चाहती थीं इसलिये उनने मेरा नाम मूलचन्द्र से दरबारीलाल कर दिया। शाहपुर के बड़े बूढ़े तो तबतक मुझे 'मुल्टू' कहते रहे जबतक शाहपुर में मेरी शादी नहीं हो गई।

हाँ तो ग़रीबी की बात कह रहा था कि घर में खूब ग़रीबी थी। पिताजी दस पाँच रुपये की पूँजी से—जो कि माताजी के गहने बेंचकर बनाली गई थी—अनाज की दूकान करते थे,

मैदान में कपड़ा बिछाकर दूकान जमाते थे । इस से जो कुछ बचता वह घर में खाने खर्च में डाल देते । कभी अनाज रख दिया, शाकभाजी लादी, एक दो पैसे मेरा भी टेक्स था वह चुका दिया, पिताजी इससे अधिक न कर पाते थे। बाकी भार बुआ के ऊपर ही था ।

घर में ग़रीबी रहने पर भी ग़रीबी और अमीरी की दो धाराएँ बहतीं थीं। मूलचन्द्रजी, मैं और मेरी बहिन अमीरी की धारामें थे । हम लोगों को गेहूं की पतली पतली रोटियाँ मिलतीं थीं, दाल शाक और घी भी मिलता था और कभी कभी दूध भी मिल जाता था परन्तु पिताजी और बुआजी ग़रीबी की धारा में थे वे दोनों घी तो किसी त्यौहार पर ही खाते। अगर हम लोगों से कोई गेहूं की रोटी बच जाती तो वे खाते थे। साधारणतः उनका भोजन था ज्वार की मोटी रोटियाँ जो कि बिना घी के छाछ या छाछ की कढ़ी के साथ खाईं जातीं थीं। उन दिनों पड़ोसियों के यहां से मुफ्त में ही छाछ मिल जाया करता था और छाछ मांगने में दीनता नहीं समझी जाती थी ।

एक दिन मेरी बहिन ने पिताजी का भोजन देखकर कहा —बुआ, तुम कक्का को [हम दोनों पिताजी को कक्का कहा करते थे] कंडे सरीखी रोटियाँ क्यों देती हो ? बहिन की बातें सुनकर बुआ गंभीर हो गईं, पिताजी हँस पड़े पर आँखें दोनों की गीली हो गईं । उन दिनों मुझे भी नहीं मालूम था फिर मेरी छोटी बहिन को क्या मालूम होता कि बुआ के वात्सल्य के कारण हम

अमीरी भोग रहे हैं परन्तु यह अमीरी की मूर्त्ति नहीं है ग़रीबी की दीवार पर सिर्फ़ अमीरी की छाया है।

कभी कभी ऐसा भी अवसर आ जाता कि घर में घी बिलकुल न होता तब मुझे भी न मिलता और घी के बिना तो मैं खा ही नहीं सकता था इसलिये बुआ रोटी पर पानी मट्ठा दूध जो कुछ मिलता चिपड़कर ले आती तब मैं घी-चिपड़ी रोटी समझकर खाने लगता। एकबार एक पड़ोसिन ने यह रहस्य खोल दिया परन्तु उसकी बात का मैंने विश्वास नहीं किया। सच बात तो यह थी कि भूख के कारण अधिक दुराग्रह करने की मुझमें हिम्मत नहीं थी इसलिये सोचता कि अगर इसे घी न मानूंगा तो दूसरा घी न मिलेगा और बिना घी के तो मैं खा नहीं सकता।

पर ऐसी घटना आपवादिक थी। रोज़मर्रा का जीवन तो खाने पीने की तरफ़ से सन्तोषप्रद था। इस आरामने तथा लाड़ प्यारने मुझे खूब उदंड तथा हठी बना दिया था। इससे मैं पिताजी को तो तंग करता ही था पर बुआ को भी खूब तंग करता था। एकबार बहुत परेशान करने पर उनके मुँह से निकल गया 'हमारा ही तो खाता है और इतना मिजाज़ करता है'

यह वाक्य मेरे हृदय पर वज्र की तरह गिरा। मेरा क्रोध रिसाना उपद्रव सब दूर हो गया। मैं सुन्नसा होकर रह गया। चोट की मात्रा इतनी तेज़ थी कि मैं रो भी न सका। सब का स्थान चिन्ताने ले लिया।

संध्या के समय जब पिताजी घर आये तब मैं उन्हें घर के

बाहर ले गया और एकान्त में उनसे पूछा—मैं तुम्हारा खाता हूं या बुआ का ?

पिताजी मेरे इस इस प्रश्न से ही बहुत कुछ समझ गये। मेरे अभिमानी स्वभाव का उन्हें पता था ही इसलिये उन्हें भय हुआ कि कहीं कोई कांड न बढ़ जाय इसलिये उनने मुझे समझाते हुए कहा 'बेटा अपन गरीब हैं, अपन बुआ का ही खाते हैं इसलिये वे कुछ कहें तो चुपचाप सुन लेना चाहिये उन्हें तंग न करना चाहिये।

उनकी बात सुनकर मेरे आँसू बहने लगे और पिताजी के भी। फिर मेरा धैर्य छूट गया और मैं पिताजी से लिपट कर खूब सिसक सिसक कर रोने लगा। पिताजी भी मुझे छाती से लगाकर खूब रोने लगे। दोनों मौन थे। आज मुझे पहिले पहल गरीबी का अनुभव हुआ था। मैं सोच रहा था—मैं कंगाल का बेटा हूं ऐसा कि अपने बाप की रोटी भी नहीं पा सकता ऐसे कंगाल को रिसाने का क्या अधिकार है ? पिताजी मुझे देख रहे थे—उस असीम अंधकार में मैं ही उनके हाथ का छोटा सा दीपक था जिसे सब कुछ लगाकर वे बड़े जतन से सम्हाल रहे थे और जीवनपथ तय कर रहे थे। दोनों ही वेदनाओं का बोझ लिये हुए घर में आये। किसी को उस घटना का पता भी न लगा। मेरा रिसाना इकदम कम हो गया। ख़ास कर बुआ के सामने तो मैं रिसाता ही न था।

अब मैं समझने लगा कि पिताजी क्यों इतना कष्ट सहते हैं। कठिन से कठिन काम को भी क्यों तैयार रहते हैं ? एक बार

मूलचन्दजी का पुत्र बीमार पड़ा। उसके लिये किसीने बता दिया कि अमावस के आधीरात के बाद श्मशान में नंगे जाकर चिता में से हड्डी लाना चाहिये उसके बाँधने से बीमारी चली जायगी। पिताजी ने यह काम निःसंकोच होकर किया। यह बात दूसरी है कि लड़का अच्छा न हुआ। और भी बहुत से काम छोटे बड़े उन्हें करना पड़ते थे और वे करते थे। उनका स्वार्थ यह था कि मैं आराम से पलपुस जाऊं।

पिताजीने मेरे लिये जो त्याग किया, तप किया वह बहुत कम पिता कर पाते हैं। माताओं में अवश्य ही ऐसे नमूने मिल सकते हैं-वे भी बहुत नहीं। खैर, मेरे ऊपर पिताजी के उपकारों का ही बोझ नहीं है किन्तु बुआजी की सेवा, सहायता और मूलचन्दजी की सहिष्णुतारूप उदारता का बोझ भी कम नहीं है। जब इन बातों की याद आती है तो लज्जित हो जाता हूं कि समाज के लिये अच्छा बुरा कुछ भी किया हो पर पिताजी, बुआजी और मूलचन्दजी का ऋण तो न चुका पाया। बुआजी तो तभी स्वर्गीया हो गईं जब मेरे जीवन की कली खिलने भी न पाई थी।

६ खिलाड़ी

पढ़ने में कोई खास रुचि न थी सिर्फ पंडित कहलाने की महत्त्वाकांक्षा थी। शौक से अगर कोई चीज पढ़ता था तो वह था पद्मपुराण। स्कूली किताबें तो जी पर आती थीं। प्रायमरी हिन्दी स्कूल की पढ़ाई पूरी हो जाने पर मैं अंग्रेजी स्कूल में बिठलाया गया। चारों तरह की वर्णमाला तो किसी तरह सीखली पर बाकी

जो कुछ था वह भार हो गया । रटने में मैं कमजोर था । और अंग्रेजी में तो शब्दार्थ और स्पेलिंग की रटाई ही मुख्य थी । इसीलिये मैं जीवन भर अंग्रेजी न सीख सका । अध्यापक हो जाने पर भी कईबार प्रयत्न किया पर रटाई न कर सकने के कारण बहुत कम फल हुआ । और आज भी अंग्रेजी का ज्ञान नहीं के बराबर है । बाल्यवस्था में मैं सिर्फ भजन ही रट पाता था क्योंकि वह नगद पुण्य था—उसका फल तुरन्त मिलता था—समाज में तारीफ होती थी । बाकी रटने के कार्य में सदा असफल रहा ।

रटाई की उस कमजोरी ने अंग्रजी स्कूल की पढ़ाई से अरुचि करदी । पढ़ाई की अरुचि से मैं अधिक खिलाड़ी लड़ाकू बातूनी और साहसी हो गया । यद्यपि जब हिन्दी स्कूल में पढ़ता था तब भी खिलाड़ी था पर अब तो इस की मात्रा इतनी बढ़ गई कि सीमा का उल्लंघन हो गया । छुट्टीके दिन सुबह से रात्रि के दस ग्यारह बजे तक खेलता ही रहता सिर्फ भोजन करने के लिये आता ।

अंग्रजी स्कूल में मन न लगता था । मेरे समान मन न लगा-सकनेवाले और भी लड़के थे उन सब का गुट्ट बन गया । हम लोग स्कूल के समय अपना अपना बस्ता लेकर निकलते और एक निश्चित जगह पर इकट्ठे होते फिर वहां से बस्ती से दूर खेतों में घूमते रहते । भूख लगती तो शाकभाजी के खेत में से मूली तोड़ लेते । पर चोरी करने के लिये जिस हिम्मत की जरूरत थी वह हिम्मत मुझमें नहीं थी । इसलिये दूसरे साथी जो चुराकर माल लाते उसी में से मुझे कुछ मिलता । इस प्रकार हम सब दिन पूरा

करके स्कूल की छुट्टी के समय अपनी अपनी पुस्तकों का बस्ता दबाये अपने अपने घर पहुँच जाते ।

पर यह पोल बहुत दिन न चली । कुछ दिनों में स्कूल की तरफ से गैरहाजिरी की जाँच हुई और भंडाफोड़ हो गया । पिताजी जबर्दस्ती पकड़ पकड़ कर मुझे स्कूल ले जाने लगे । पर इस काम में मैंने उन्हें इतना परेशान किया और स्वयं दुखी हुआ कि कुछ तो दया के कारण और कुछ परेशानी के कारण उन्हें मेरे पढ़ाने का इरादा छोड़ देना पड़ा इस प्रकार मैं स्वतन्त्र अर्थात् स्वच्छन्द हो गया ।

उस दस ग्यारह वर्ष की उम्र में व्यापार वगैरह तो कर ही नहीं सकता था । पिताजी के पास रोजगार भी ऐसा न था जिस में मेरी रुचि होती । अनाज के थैले लादना मेरे वश के बाहर था और पिताजी भी नहीं चाहते थे कि मैं इस काम में पड़ूं इसलिये मैं स्वतन्त्र अर्थात स्वच्छन्द कर दिया गया । दिन भर गिल्ली गोली और तास खेलता । कौड़ियों से जुआ भी खेलता था । पैसों से जुआ खेलने की हिम्मत कभी नहीं हुई न इतने साधन ही थे । लगातार दस दस घंटे तक तास खेलना मेरे लिये स्वाभाविक था । खेलसे मैं थकता न था । असल म मैं व्यसनी हो गया था । पर बड़ा आदमी बनने की धुन अब भी सवार थी इसलिये धीरे धीरे मैंने टोली बनाई और बहुत से लड़कों का सरदार बन गया । अपने दलको लेकर मैं घूमने जाता, दूसरे दलों से युद्ध करता और भी कुछ न कुछ आकर्षक और साहसपूर्ण कार्यक्रम रखता । मेरे घर पर दल का आफिस बना इधर उधर की अच्छी बुरी तसवीरों से वह

सजाया गया । वहां कौड़ियों से चन्दा किया जाता था । मैं ठहरा सरदार, इसलिये चन्दे में पूरा पैसा या दो पैसे तक दे डालता था । कभी कभी सर्कस सरीखे साधारण खेल तमाशे करके कौड़ियों का टिकट लगा कर धन-संग्रह करता । जरूरत होने पर अपने हाथ-खर्च के पैसे दो पैसे लगा देता । मेरी फौज के लड़के या तो गरीबों के थे या कंजूस अमीरों के, इसलिये मेरा सब पर रौब था । यहां तक कि जब लड़कों में परस्पर झगड़ा होता तब उसका निबटारा मैं ही करता । जो अपराधी होता उसे बेतों से पीटता, इसके लिये मैंने दो पैसे का बेत भी खरीद लिया था । इस प्रकार अपराधी को सजा देकर सोचता कि मैं मास्टर तो नहीं बन पाया पर जो कुछ बन पाया वह मास्टर से कुछ बुरा नहीं है ।

मुहल्ले में मेरा एक प्रतिस्पर्धी भी था, उस के तरफ लड़के न खिंच जाँय इसकी बड़ी चिंता रखना पड़ती थी । इसके लिये नाना आकर्षक कार्यक्रम रखना पड़ते थे । इतने पर भी कभी कभी अकेला रह जाना पड़ता था और धैर्य से लोक-संग्रह का प्रयत्न करना पड़ता था । विरोधियों से घिर जाने पर कभी कभी अकेले ही सामना करना पड़ता था । इतनी चतुराई तब आगई थी कि चार छः विरोधी दूर से पत्थर मारें तो उन सबकी चोटों से मैं अपनी रक्षा कर सकूं । आते हुए पत्थर की दिशा पहिचान कर ऊपर कूदकर या बैठकर या दायें बायें होकर चोट से बचने में उस समय काफी होश्यार हो गया था । इसलिये विरोधी दल से घिर कर आत्मरक्षा अच्छी तरह कर लेता था ।

मेरे दल में कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो शक्ति में मुझसे अधिक थे परन्तु कहीं कुलीनता के कारण, कहीं अंधों में काने राजा के समान अपनी बुद्धि या भजनादि सम्बन्धी विद्वत्ता के कारण, कहीं पैसे दो पैसे प्रतिदिन खर्च कर सकने की अपनी अमीरी के कारण मेरा प्रभाव उनपर रहता था। इस प्रकार वर्ष डेढ़ वर्ष का समय खूब मजे में बीता।

पर इस समय भी मेरे मनमें एक लालसा थी ही कि पंडित बनूं। मेरे गांव का एक लड़का संस्कृत पढ़ने सागर गया था छुट्टी में जब वह वहाँ से आया तो उसके रहन सहन में काफी परिवर्तन हो गया था और उसकी काफी प्रशंसा होती थी उसे देखकर मेरा जी ले ले जाता था और मेरी भी इच्छा होती थी कि मैं भी किसी तरह संस्कृत पढ़ने चला जाऊँ।

एकबार मुझे मालूम हुआ कि इन्दौर में संस्कृत विद्यालय है वहाँ विद्यार्थियों को छः रुपया मासिक छात्रवृत्ति मिलती है पर उसी में अपने खाने पीने आदि का खर्च निकालना पड़ता है रोटी भी अपने हाथ से बनाना पड़ती है बर्तन भी मलना पड़ते हैं। मैं इन सब परिस्थितियों का सामना करने के लिये तैयार हो गया पर पिताजी तैयार नहीं हुए। वे विश्वास ही नहीं कर सकते थे कि मैं इतना कष्ट उठा सकूंगा, क्योंकि मैं घर से बाजार तक लोटा ले जाता था तो मेरा हाथ दर्द करने लगता था उँगलियाँ फूल जाती थीं। लड़ने झगड़ने और खेलने को छोड़कर छोटे से छोटा काम भी मैं नहीं कर पाता था। ऐसी हालत में मैं रोटी बना सकूंगा कपड़े

खो सकूंगा वतन मत्त सकूंगा इसकी आशा ही व्यर्थ थी, इसलिये पिताजी ने मुझे इन्दोर न भेजा। थोड़ी देर को मुझे अपनी नालायकी पर खेद हुआ पर बाद में फिर खिलाड़ी जीवन में डूब गया।

इस जीवन से अनेक कड़ुए अनुभव हुए। कभी अन्याय से दूसरों को सताया, कभी अन्याय से सताया गया, कचहरियों तक झगड़े पहुँचने की नौबत आई और पहुँचे भी। इससमय मेरा जीवन आवारागर्दी का केन्द्र बन गया था। दस वर्ष की उम्र के बाद शिक्षणहीन लड़कों का जीवन प्रायः ऐसा ही हो जाता है। शिक्षण चालू हो तब तो ठीक, नहीं तो इस उम्र का लड़का बड़ा भद्दा जीव है। न तो शिशु समझकर उसे कोई प्यार कर सकता है न युवक समझकर उस का कोई आदर कर सकता है। पिताजी की एकमात्र सन्तान होने से मैं उन के प्यार को पाये हुए था पर और सब के लिये तो नटखटियों का सरदार था।

पर सौभाग्य इतना ही था कि नटखटपन खेल कूँद तथा जरूरत होने पर मारपीट या गाली गलौज़ तक ही सीमित रहा। व्यभिचार, चोरी, विश्वासघात, बीड़ी, तम्बाकू, भंग आदि मुझे छूने नहीं पाये। कई दोस्तोंने बीड़ी आदि के लिये बड़ी कोशिश की मेरे मुँहमें ठूँस ठूँस दी, दीवाली आदि के अवसरों पर तो गुरुजनों ने भी भंग पिलाने की कोशिश की पर मैंने मुँह बिगाड़ कर उल्टी करने का ढोंग कर के अपना बचाव कर लिया। व्यभिचार के लिये दोस्तोंने खूब जोर मारा। व्यभिचार का आनन्द, किस किस दोस्त ने कब कब किस किस कुमारी विधवा वेश्या आदि के साथ व्यभिचार किया इस की झूठी सच्ची कथाएँ मुझे सुनाई जातीं,

पर सुनते ही मैं डर जाता। पुराणों के स्वाध्याय ने या और अज्ञात संस्कारोंने मुझे कुछ ऐसा पाप-भीरु बना दिया था कि चोरी और व्यभिचार की मुझ में हिम्मत ही नहीं रहगई थी। नारी जाति के विषय में तो कुछ ऐसी भावना बन गई थी कि मैं दस लड़कोंसे भले ही लड़जाऊँ पर एक लड़की से डर जाता था। लड़कों को या बड़े बूढ़ों तक को गाली दे जाता पर किसी स्त्री का सामना पड़ता तो भागने के सिवाय और कुछ न कर पाता था। स्त्रियों को गाली देना तो दूर की बात, पर किसी स्त्री के सामने किसी को गाली देना भी बुरा समझता था। अगर कोई लड़का किसी स्त्री के सामने किसी दूसरे लड़के को गाली देता तो मैं उसे मार बैठता। मुझे नारी के देखते ही सीता और अञ्जना याद आतीं थीं। पद्मपुराणने इन महिलाओं की भक्ति से मेरे हृदय को भर दिया था।

उस प्रतिकूल वातावरण में जिस अज्ञात शक्तिने मेरे चरित्र की पूरी तरह रक्षा की उस महाशक्ति को न जानते हुए भी न जाने कितनेबार मैंने धन्यवाद दिया है, न जाने कितनेबार एकान्त में साश्रुनयनों से प्रणाम किया है। वही महाशक्ति जगदम्बा, ईश्वर, सत्य, अहिंसा, कर्म, प्रकृति, पुण्य, आदि क्या है यह मैं अभी भी कुछ नहीं कहसकता। मेरा निरीश्वरवाद कैसे ईश्वरवाद पर अवलम्बित है यह एक पहेली ही है। आज सोचता हूँ कि विधाता के विधान में इन पहेलियों के सिवाय मनुष्य के मानमर्दन के दूसरे उपाय क्या पर्याप्त नहीं हैं ? जो इन पहेलियों को बना रक्खा है। खैर।

उस आवारागर्दी के जीवन में भी कोई स्नेहमयी महाशक्ति अपने पवित्र अंचल से मेरे ऊपर आनेवाली पाप की मक्खियाँ उड़ा

रही थी। उसी की प्रेरणा थी की मैं प्रतिदिन मन्दिर में जाता था। और कोई स्त्री शास्त्र सुननेवाली मिल जाती तो शास्त्र अर्थात् पद्मपुराण भी पढ़ता था। इस प्रकार पंडित बनने की भावना जगी रहती थी और खिलाड़ी जीवन में भी वहाँ से निकलकर उन्नति करने की प्रेरणा मिलती रहती थी।

(७)

सागर पाठशाला में प्रवेश

बुँदेलखंड के जैन समाज में पं. गणेशप्रसाद जी का बहुत नाम है। वे सागर पाठशाला के संस्थापक और अधिष्ठाता हैं। एकबार वे दमोह आये। वे शास्त्र में क्या पढ़ते थे यह तो नहीं समझ सका पर खूब पढ़ते थे, उनका आदर भी खूब होता था, उन्हें देख कर फिर पंडित बनने की लालसा तीव्र हुई, पर पिताजी से कहना व्यर्थ था वे मुझे बाहर भेजने को तैयार न थे इसलिये मैं उन पंडितजी के पास गया और एकान्त में मिलने के लिये घंटों बाट देखता रहा। बड़ी मुश्किल में एकान्त पाकर साहस बटोर कर मैंने उनसे कहा--मैं पढ़ना चाहता हूं आप भरती करलें। उनने सब हाल चाल पूछ कर कहा---तुम्हारे पिता कहेंगे तो तुम्हें भरती कर लूंगा। मुझे मानों देवता का वरदान मिल गया।

मेरे साथी भाई उदयचन्दजी लहरी थे जिन्हें मैं उस समय गुट्टी कहा करता था उनके घरवाले भी उन्हें इसी नाम से बुलाते थे। हम दोनों ने शिशुवर्ग में एक साथ प्रवेश किया था और एक साथ प्रायमरी में पास हुए थे। मैंने पढ़ना छोड दिया था वे अंग्रेजी

की पहिली क्लास में पढ़तेथे । मेरा इनका घरोबा था । हां, कभी कभी लडकों के नायकत्व के कारण झगड़ा हो जाता था इसलिये बोलचाल भी बन्द हो जाती थी थोड़ी बहुत मारपीट भी हो जाती थी । पर मित्रता कौटुम्बिकता में परिणत हो गई थी इसलिये स्थायीरूप में विच्छेद कभी नहीं हुआ । इनके पिताजी की भी इच्छा थी कि गुट्टी को सागर भेजाजाय। मैं भी गुट्टी के साथ हो गया किसी तरह पिताजी को खींचकर पं. गणेशप्रसादजी के पास ले गया । सबके दबाव में आकर उनने मुझे सागर भेजना मंजूर कर लिया। घर आने पर बुआजी ने कहा--अकेले लड़के को कहाँ जाते हो ? बस, पिताजी को इतना इशारा काफी था उनने फिर मना कर दिया । पर मैंने हिम्मत न हारी । जिस दिन पं. गणेशप्रसादजी सागर जानेवाले थे उस दिन शाम से ही मैं उनके पीछे पीछे फिरने लगा । पर उनसे बात करने की हिम्मत न पड़ी । इस प्रकार रात के १२॥ बज गये । दो बजे गाड़ी जाती थी तब मैंने बड़ी हिम्मत करके उनसे कहा--मुझे साथ ले चलिये ! उनने कहा--ऐसे कैसे ले चलूं ? तुम्हारे पिता तो फिर आये ही नहीं । तुम अपने पिता को लेकर स्टेशन आओ उनसे बातचीत होने पर जैसा होगा देखा जायगा ।

१२॥ बजे रात को मल्लपुरा से घर लौटा । उतनी रात को उन गलियों में से घर आने का यह पहिला ही अवसर था । और तो ठीक, लेकिन एक गली के एक विशाल इमली के झाड़ पर सैकड़ों भूतों के रहने की किंवदन्ती थी । इन भूतों को कब कब किस किसने किस किस तरह देखा यह सब याद था, रात में उस

झाड़ के नीचे से निकलना मेरे लिये सब से कठिन कार्य था। एकाध आदमी साथ हो तब भी मैं डरता था फिर अकेले की तो बात ही निराली थी। पर यह कहना चाहिये कि उस रात में मुझ में असीम साहस आ गया था। उस झाड़ के नीचे से मैं हिम्मत करके निकल आया। पर पिताजी को मेरी इस हिम्मत से क्या मतलब, वे स्टेशन पर चलने को राजी ही न होते थे। बहुत रोया, बकझक की, अन्त में इतना झूठ भी बोला कि तुम्हें पंडितजी ने और काम से बुलाया है और कहा है कि दरबारीको भेजना हो भेजो, न भेजना हो मत भेजो, पर मुझसे एकबार जरूर मिल जाओ। इस पर वे किसी तरह राजी हुए और मैं उन्हें लेकर स्टेशन पहुंचा। पंडितजी का प्रभाव इतना था कि उनके सामने मना करने की हिम्मत पिताजी में नहीं थी। युक्ति तर्क आदि की अपेक्षा प्रभाव कितना बलवान है इसका मुझे अच्छा अनुभव हुआ।

उस रात का आनन्द एक अनिर्वचनीय आनन्द था। रातभर मैं इसी कल्पना में मस्त रहा कि मैं पंडितजी बन गया हूं बड़ी बड़ी सभाओं में शास्त्र पढ़ रहा हूं लोग मुझसे पंडित जी पंडितजी कह रहे हैं, बस मैं कृतकृत्य हूं।

दो चार दिन बाद मैंने पिताजी से सागर भेज देने की बात कही पर उनने फिर मना करदिया। पर अब तो मुझ में लड़ने की हिम्मत आगई थी। मैंने कहा—अगर तुम्हें नहीं भेजना था तो उस दिन पंडितजीसे क्यों कहा? जानते हो महापुरुषों के साथ झूठ बोलने से कितना पाप होता है? वसु राजा की कैसी दशा हुई थी। इस प्रकार पुराणों की पंडिताई बता बताकर मैंने उन्हें खूब

फटकारा । सत्य बोलना ही जीवन है इस पर एक व्याख्यान सा झाड़ गया मानों अपने पिता से सत्य बुलवाने की ठेकेदारी मुझे ही मिल गई हो ।

इस प्रकार १५--२० दिन लड़ने के बाद मैं भाई उदयचन्द के साथ सागर पाठशाला में पढ़ने भेज दिया गया ।

(४) पाठशाला का जीवन

सागर पाठशाला का नाम छोटा न था । वह 'सत्तर्क सुधा तरङ्गिणी दिगम्बर जैन पाठशाला' कहलाती थी । आज तो उसकी विशाल इमारत है पर उन दिनों वह चमेली चौकके एक मकान में थी ।

पाठशाला में मेरे जीवन में काफ़ी परिवर्तन हुआ । अपने हाथ से कपड़े धोना, झाड़ू लगाना कभी कभी बर्तन मलना, खास खास दिनों में रसोइया को मदद करना, अध्यापकों की लकड़ी लाना, उनकी शाक वगैरह बनाना आदि बहुत से कार्य मैं सीख गया । घर पर शायद जीवन भर ये छोटे छोटे काम न सीख पाता । घर पर खिलाड़ी पूरा था पर काम का परिश्रम जरा भी न होता था । यहाँ आदत पड़ी । साथ ही विनय और नियमितता भी काफ़ी आगई मितव्ययी या कंजूस भी हो गया ।

पाठशाला की तरफ़ से हाथ खर्च के लिये चार आने महीने मिलता था और क़रीब आठ आने महीना पिताजी देते थे । इस प्रकार बारह आने महीने मेरे हाथखर्च का बजट था ।

घर पर तो दिन में कई बार कुछ न कुछ खाने को मिल जाता था और सवेरे कलेवा तो अवश्य मिलता था । पर पाठशाला

में यह सब कैसे हो सकता था। वहाँ तो बँधे हुए समय पर दो बार भोजन मिलता था। इसलिये सुबह काफ़ी भूख लग आती थी तब आधे पैसे के चने खाया करता था। कभी कभी जब भूख जोरदार मालूम होती तब अपने हिस्से के घीमें से-जो प्रति प्रतिपदा को मिट्टी के बर्तन में मिला करता था-एकाध तोला घी खालिया करता था, या पूरे पैसे के चने ले लेता था, इससे बढ़कर उल्खर्ची कभी नहीं हुई। हां, कभी एक दो पैसे के फल भी ले लेता था। इस प्रकार छः सात आने महीने का खर्च यह था और बाकी पैसे स्टेशनरी और पुस्तक आदि के काम आते थे। कपड़े पिताजी दे जाया करते थे। इस प्रकार मजे में गुजर हो जाती थी।

उधार लेना और भीख माँगना ये कार्य मेरे लिये बड़े कठिन थे। इसलिये भी मितव्ययी हो गया था। उधार लेना एक तरह का पाप है यह समझ स्वभाव से ही मुझे मिली थी। अब भी मेरा यही विचार है। बल्कि उसमें इतना विचार और जुड़ गया है कि उधार लेने के समान उधार देना भी पाप है। अगर मित्रता का या रिश्तेदारी का नाश करना हो तो उधार माँगलो या उधार दे दो। इस विषय के कड़ुए अनुभव जीवन में बहुत से हुए। सैकड़ों रुपये खोये रिश्तेदारियाँ टूटीं मित्रताएँ छूटीं। जब कोई उधार माँगने आये समझलो एक अमोघ आपत्ति आ गई। अगर उधार देते हो तो, और नहीं देते हो तो प्रेम नष्ट होता है। इस विषय के कड़ुए अनुभव सत्याश्रम की स्थापना के बाद आज कल भी हो रहे हैं। एक सज्जन जो सत्यसमाजी बन गये थे अपना मकान बनवाने के लिये कुछ हजार रुपया उधार माँगने आये। पर मेरे पास इतना

सामर्थ्य कहां था, इसलिये असमर्थता प्रगट की, बस उनका सत्यसमाजीपन निकल गया। एक और कठिनाई है कि मना करना मेरे लिये कठिन होता है। साधारणतः कठिन प्रसंग आने पर भी मैं माँगता नहीं था इसलिये सोचता हूं जब कोई माँगने आया है तो उसके ऊपर उतना कठिन प्रसङ्ग आया होगा जितना मेरे जीवन में कभी नहीं आया ऐसी अवस्था में देना मेरा कर्तव्य है। पर वास्तविक बात तो यह है कि जितने माँगनेवाले होते हैं उन सब के जीवन में ऐसे कठिन प्रसङ्ग नहीं आते जिन्हें वे बिना माँगे टाल न सकते हों। कोई कोई की बात दूसरी है।

यहाँ उस माँगने से मतलब नहीं है कि घर में रुपया है पर किसी खास जगह या खास समय रुपयों की ज़रूरत हो गई और माँग लिया और घर आकर तुरंत दे दिया। पर बहुत से ऐसे मित्र भी मिले जिनने इस सहूलियत का भी दुरुपयोग किया। मेरा विस्तीर्ण अनुभव है-यद्यपि हृदय की निर्बलता के कारण उसका पालन नहीं कर पाता हूं-कि मित्रता और रिश्तेदारी के बीच में पैसे का लेनदेन न आने देना चाहिये। देना हो तो दान या सहायता के रूपमें देना चाहिये। ख़ैर, सीधी बात यह है कि मुझ से माँगना न बनता था न बनता है। बल्कि माँगने की कला के अज्ञान की अति हो गई है। संस्था के लिये माँगने में भी लज्जा मालूम होती है। इस दृष्टि से असफल होने का मुख्य कारण शायद यही हो।

कुछ भी हो, मैं मितव्ययी या कंजूस था, और साथ ही सब तरह की व्यवस्था का आनन्द भी लेना चाहता था। मैंने एक

डिब्बी अपनी पेटी में रख छोड़ी थी। उस डिब्बी का नाम रक्खा था 'बेंक'। उसमें कभी कभी एकाध पैसा डाल दिया करता था। इस प्रकार कभी कभी उसमें चार आने तक इकट्ठे हो जाते थे। उस बेंक नामक धुवफंड में इससे अधिक धनसंग्रह नहीं कर पाता था। बहुत कठिन अवस्था में ही उसमें से पैसे निकाले जाते थे।

एक बार ऐसा अवसर आया कि घर से पैसे न आपाये। पाठशाला से जो चार आने मिले थे खर्च हो गये सिर्फ एक पैसा बचा। इस एक पैसे से बीस दिन गुजर करना पड़ा। मैं यह भी नहीं चाहता था कि ज़रूरत होने पर किसी के सामने मुझे यह कहना पड़े कि मेरे पास एक भी पैसा नहीं है। कम से कम घर समाचार भेजने के लिये एक पैसा रहना ज़रूरी है (उनदिनों पोस्टकार्ड तीन पैसे में नहीं, एक पैसे में मिलता था) उधार लेने से तो ऐसी ही घृणा थी जैसे पाप से होती है। उस समय भी मेरा विचार था और आज भी मेरा विचार है कि जो मनुष्य उधार लेता है वह अपने व्यक्तित्व को आत्मगौरव को नष्ट करता है, वैर के बीज बोता है। और आज तो इतना और कहता हूं कि पूंजीवाद को जीवित रखता है। उधार लेने से घृणा यहां तक रही कि बम्बई में बहुत से दूकानदार कहा करते थे कि आप खाता रखिये महीने के महीने हिसाब चुका दीजिये या जब इच्छा हो तब हिसाब चुका दीजिये। पर मैंने दूकानों में भी इस प्रकार के खाते नहीं खोले। इतना उधार लेना भी मुझे बुरा मालूम होता था। हालाँकि इस प्रकार के खाते रक्खे जाँय तो कोई बुराई नहीं है। पर जहां तक न रक्खे जांय वहां तक

अच्छा ही है । इस वृत्ति की जड़ बाल्यावस्था से ही जमी है। यही कारण है कि एक पैसे को लेकर मैंने बीस दिन गुजर की। बीस दिन के लिये सबेरे के चने भी बन्द हो गये फिर और खर्च तो करता ही क्या ?

इस समय विचार करता हूं तो ऐसा मालूम होता है कि उस समय काफी आर्थिक कष्ट था। परन्तु उन दिनों उतने में ही सन्तोष था बल्कि धर्मशास्त्र का यह असर पड़ता था कि अपने को कुछ दान भी देना चाहिये । इसी बात के लिये एक बार दो चार छात्रों ने एक बैठक की। उसमें विचार किया गया कि अपने को चार आना महीने हाथखर्च मिलता है, परन्तु दुनिया में ऐसे भी आदमी हैं जिन्हें इतना भी नहीं मिलता इसलिये अपना कर्तव्य है कि हम हाथखर्च में से कुछ न कुछ दान अवश्य करें। अन्त में यह तय हुआ कि एक पैसा महीना दान करना चाहिये। बस, जिस दिन हाथखर्च के चार आने मिलते उस दिन दो अधेले दो भिखारियों को दे देता। बहुत दिनों तक यह नियम चला। इससे समझा जा सकता है कि उस समय की गरीबी खटकती नहीं थी। इतना ही नहीं, किन्तु दानी बनने का शौक भी पूरा कर लेता था।

सागर पाठशाला की दिनचर्या कुछ कठोर थी। सुबह चार बजे उठना पड़ता था और रात्रि के दस बजे सोना पड़ता था। आज भी मैं सात साढ़े सात घंटे नींद लेता हूं उन दिनों आठ घंटे की जरूरत थी। फल यह होता कि उस दो घंटेकी कमी को चार घंटे ऊंघकर पूरी करता। इधर आठ बजे से ऊंघने लगता उधर सबेरे चार बजे उठकर दिया जलाकर अच्छी तरह रजाई ओढ़कर छः बजे तक ऊंघता रहता। पंडितजी या कोई अध्यापक जब आये तो आहट

पाकर पुस्तक की तरफ देखने लगे या किसी दिन पकड़े गये तो आराम से सिर झुकाकर दो चार गालियां खालीं और उनके जाने पर फिर ऊँघने लगे। मेरा तथा और बहुत से विद्यार्थियों का यही क्रम था। संचालकों ने यह कभी नहीं सोचा कि अगर इन लड़कों को पूरी नींद दी जायगी तो ये ऊँघना बंद कर देंगे और कुछ ध्यान से पढ़ सकेंगे। उनके सामने तो बनारस की वे कहानियाँ थीं कि बनारस में विद्यार्थी अपनी लम्बी चोटी खूंटी से बाँधकर पढ़ते हैं कि नींद आये तो चोटी को झटका लगने से खुल जाय।

चोटी तो प्रायः सभी विद्यार्थियों ने बढ़ाई थी इसलिये मैंने भी, पर इस प्रकार खूंटी से बँधने का सौभाग्य उसे नहीं मिल पाया। इस प्रकार के कृत्रिम जागरण से जो रटाई होती है उस में मुँह तो बजता है पर मन नहीं बजता, जब कि अध्ययन मन की मजदूरी है मुँह की नहीं। इस प्रकार से हम लोग रात भर दो श्लोक रटते थे और सबेरे भूल जाते थे। इस असफलता की छाप मेरे ऊपर यह पड़ी कि मैं अपने को मूर्ख समझने लगा। यों तो हरएक मनुष्य कुछ न कुछ मूर्ख होता है पर मैं जितना था उससे भी अधिक समझने लगा। एक तरह से आत्मविश्वास नष्ट हो गया। यह भी एक कारण था कि कई वर्ष पढ़ने पर भी मैं विशेष न पढ़ पाया।

पाठशाला के जीवन में एक विशेष गुण था। वहां का वातावरण हरएक विद्यार्थी को विनीत और आज्ञापालक बना देता था। एक ही मकान में सब विद्यार्थी, अध्यापक अधिष्ठाता आदि रहते थे और उसी मकान में पढ़ाई होती थी, इस प्रकार दिन रात का

इतना सम्पर्क रहते हुए भी विनय का पूरा पालन होता था। कुर्सियाँ या बेंचें तो वहां थीं नहीं, मामूली ढोरिये थे फिर भी अध्यापक के पास आने पर हम खड़े हो जाते थे। और अपने कमरे का यह नियम था कि जबतक गुरुजन कमरे में रहते हम उनके सामने खड़े रहते, दिन में सबसे पहिले जब कोई अध्यापक मिलता तो उसके चरण छूते, भले ही वह बाजार क्यों न हो। अध्यापकों की आज्ञा न मानने की तो हम लोग कल्पना ही नहीं कर सकते थे। उनके पुकारने पर सब काम छोड़कर तुरन्त हाजिर हो जाते थे। किसी भी तरह की छोटी बड़ी सेवा करने में हमें शर्म न मालूम होती थी।

इस विनय और सेवा के दो परिणाम मालूम हुए। एक तो गुरु शिष्य का घनिष्ठ प्रेम, जिससे गुरु के हृदय में शिष्य की उन्नति की प्रबल आकांक्षा बनी रहती थी। दूसरा अहंकार या उद्दंडता का दमन, इससे अनेक अनर्थों पर अंकुश रहता था।

कुछ लोगों का यह विचार है कि गुरुशिष्य का सम्बन्ध दो मित्रों सरीखा होना चाहिये। पर मेरा तो यह अनुभव है कि पिता पुत्र के समान सम्बन्ध अधिक लाभप्रद है। प्रेम तो दोनों हालतों में है पर मित्रता के नाते में ईर्ष्या जल्दी पैदा होजाती है, पद पद पर अधिकार का विचार और अपमान का अनुभव होने लगता है ऐसी हालत में गुरु उतना ही देता है जितना परीक्षा-फल के लिये अनिवार्य हो। देने के विषयमें उसकी दिली उमंग नष्ट हो जाती है।

मानव-हृदय की यह कमजोरी है जोकि पूर्ण योगी होनेपर ही नष्ट हो सकती है कि वह प्रतिद्वन्दिता सहन नहीं कर सकता। मित्र या भाई से भी हम प्रेम करते हैं और बेटे से भी। पर बेटे की

उन्नति की जितनी चिन्ता या प्रसन्नता हमें होती है उतनी मित्र या भाई की उन्नति की नहीं। शिष्य यदि गुरु से बड़ा भी हो जाय किन्तु बड़ा होने पर भी जब वह मिलने पर सिर झुकाये तब गुरु यह क्यों न चाहेगा कि मेरा शिष्य महान से महान हो जिससे मेरी महत्ता बढ़े। बेटे के समान शिष्य की महत्ता गुरु के हृदय में ईर्ष्या नहीं पैदा करेगी किन्तु मित्र के समान शिष्य की पैदा करेगी। साधारणतः भाई भाई में ईर्ष्या हो जाती है बाप बेटे में नहीं। मानव-हृदय की इसी कमजोरी को ध्यान में रखकर गुरु शिष्य को पिता पुत्र के समान मानने की नीति बनाई गई थी। दूसरी बात यह है कि जब गुरु मित्र रह जाता है तब गुरु का संकोच लज्जा आदि नष्ट हो जाते हैं इसलिये जवानी की उद्दंडताएँ तथा और भी बुराइयाँ निरंकुश हो जाती हैं। गुरु के अस्तित्व का उनपर प्रभाव नहीं पड़ता ऐसा जीवन दूसरों को दुखी करता है और अपने को दुखी करता है।

मैं मित्र रूप में शिष्य और पुत्र रूप में शिष्य और मित्र रूपमें गुरु और पिता रूपमें गुरु, इन चारों हालतों में से गुजरा हूं और उस पर से इसी निर्णय पर आया हूं कि कुछ अपवादों को छोड़कर गुरु शिष्य का पिता पुत्र के समान होना ही ठीक है।

हाँ, कभी कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जहाँ मित्र को भी अपने पास पढने का अवसर आ जाता है एक विषय का विद्वान दूसरे विषय के विद्वान के पास कुछ सीखना चाहता है तो ऐसी अवस्था में मित्रत्व के सम्बन्ध का निर्वाह करना चाहिये।

गुरुशिष्य को पिता पुत्र बनाने का यह मतलब नहीं है कि शिष्य आचार विचार के विषय में भी गुरु का दास बन जाय। मेरे एक ब्राह्मण अध्यापक मैथुल थे। मैथुल लोग प्रायः सर्वभक्षी हुआ करते हैं। वे मांस मछली केंचुए झिंगुर आदि तक खा जाते हैं। मेरे अध्यापक शाकाहारी रहते थे क्योंकि इस तरफ़ ब्राह्मण लोग मांसभक्षी नहीं होते, फिर वे एक जैनशाला में रहते थे; परन्तु जब छुट्टी में अपने घर जाते थे तब खाया करते थे यह बात हम सब को माल्हम थी। कभी कभी मैं मांसभक्षण का नम्र विरोध किया करता था। इसी प्रकार जैन सिद्धान्त को लेकर विवाद सा करने लगता था। किन्तु जब वे मेरे बालोचित तर्कों से ऊबकर गाली दे बैठते तब हँस देता था।

यह नियम था कि गुरु अगर क्रोध से डाँटे तो चुप रहजाना, यदि हलके क्रोध या विनोदमिश्रित क्रोध का प्रदर्शन करें तो मुसकरा जाना। इस प्रकार गुरु शिष्य का सम्बन्ध कभी नहीं बिगड़ पाया। इस नीति का अच्छा ही प्रभाव पड़ा।

फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि गुरु शिष्य का यह सम्बन्ध तभी टिक सकता है जब गुरु योग्य हो स्नेही हो निःपक्ष हो और उसमें कुछ गाम्भीर्य और कुछ विनोद हो। ख़ैर, सागर पाठशाला के जीवन से इतना आवश्य हुआ कि मैं कष्टसहिष्णु सेवाभावी और विनीत हो गया।

[९] पाठशाला का ज्ञानदान.

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सागर पाठशाला ने मेरा बड़ा उपकार किया है। मेरे जीवन की धारा बदलदी है । फिर भी इतना कहना ही पड़ता है कि उसका शिक्षणक्रम बड़ा सदोष था । पहिले पहिले सात आठ महीने तक मुझ से अमरकोष ही रटाया गया, फिर सात आठ महीने तक कातंत्र व्याकरण चला, फिर लघु-कौमुदी चली । साथ के लिये दूसरा कोई विषय न था । इतिहास, काव्य अंग्रेजी आदि का अभ्यास तो दूर की बात, पर जिस धर्म-शिक्षण के लिये पाठशाला थी वह धर्मशिक्षण भी न मिलता था । ब्राह्मण अध्यापक जैनधर्म के शिक्षण के विरोधी, और पं. गणेशप्रसाद-जी ब्राह्मण अध्यापकों के हाथ की कठपुतली, इसलिये धर्मशास्त्र का शिक्षण बन्द था । इधर कोष और व्याकरण रटना मेरे लिये अत्यन्त अरुचिकर था । इस प्रकार तीन चार वर्ष में न तो मैं व्याकरण पूरा पढ़ पाया न अन्य किसी विषय का अध्ययन हुआ । संसर्ग के कारण कुछ पुरानेपन के संस्कार जोर पकड़ गये । पर न मालूम वह कौनसी शक्ति थी जो मुझे बाहर फैलाना चाहती थी । पाठशाला की पढ़ाई से मैं असन्तुष्ट रहता था । इसलिये ज्ञान की भूख बुझाने के लिये मैंने इधर उधर खोज शुरु कर दी ।

सागर में एक सरस्वती वाचनालय था । शाम को वहीं जाने लगा । पुस्तकें घर लाने के लिये कुछ डिपाजिट जमा करना पड़ती थी पर रुपया दो रुपया भी डिपाजिट जमा कर सकना मेरे वश के बाहर था इसलिये रोटी खाकर जल्दी जल्दी वाचनालय पहुँचता ।

वहाँ एक घंटा पढ़ता और दौड़ कर समय पर शाला में आ जाता। इस प्रकार हिन्दी पुस्तकें पढ़ने का पूरा व्यसन लग गया। पहिले तो चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता संतति, भूतनाथ आदि उस जमाने के प्रसिद्ध ऐयारी और तिलस्मी के उपन्यास ही पढ़े पर धीरे धीरे उपन्यासों से अन्य विषयों के पठन के तरफ रुचि होने लगी। इस अध्ययन-शीलताने मेरी बुद्धि को फैलाने की काफी कोशिश की, अन्यथा मैं जैसी परिस्थितियों में पड़ गया था उसमें विचारक बनना कठिन ही था।

धर्मशास्त्र--भक्ति—सागर पाठशाला में धर्मशास्त्र नहीं पढ़ाया जाता था इसका मुझे बड़ा खेद रहता था। उसकी भूख बुझाने के लिये मैं कभी कभी मंदिर में स्वाध्याय करता। पर मैं चाहता था कि व्यवस्थित रीति से धर्मशास्त्र पढ़ूं जिससे पंडित बन जाऊँ। अन्त में अपने ही आप कुछ अध्ययन करने के लिये मैंने तत्त्वार्थसूत्र अनुवाद सहित खरीदा और उसे पढ़ने लगा। कहीं कहीं वह समझ में नहीं आता था पर तीसरा चौथा अध्याय खूब समझ में आया जिसमें स्वर्ग नरक आदि का वर्णन था। उस समय मैं कितना कूपमंडूक था यह इसीसे जाना जासकता है कि मैं सोचता था कि इससे बढ़कर ज्ञान जगत् में क्या हो सकता है? जगत् के बड़े से बड़े विद्वान इससे अधिक क्या जानते होंगे? इस में स्वर्ग नरक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी आदि तीन काल तीन लोक आगये अब जानने को बचा क्या?

तत्वार्थ सूत्र के उस स्वाध्याय का यह असर हुआ कि यह संसार मुझे बिलकुल फीका मालूम होने लगा। स्वर्ग, भोगभूमि और

विदेह क्षेत्र का मानों स्वाद आगया था। इसलिये इस जीवन का बड़ा से बड़ा आनन्द मुझे निःसार और अग्राह्य जचता था। उस समय मुझे बड़े से बड़ा प्रलोभन भी नहीं झुका सकता था। अगर कोई कहता कि तुम कल मर जाओगे तो मुझे इस समाचार से प्रसन्नता ही होती क्योंकि यह निश्चित था कि मरकर मैं विदेह में या स्वर्ग में जाऊंगा, वहाँ तीर्थंकरों के दर्शन होंगे, रोग शोक झगड़ा न होगा, बड़ी शान्ति और बड़ा आनन्द मिलेगा। इस समय खाने पीने का मोह भी चला गया था एक बार थोड़ासा खालेता था और दिनभर इन्हीं विचारों में मग्न रहता था।

मरने के बाद स्वर्ग या विदेह अवश्य मिले इसके लिये कुछ तपस्या की तरफ़ भी ध्यान जाने लगा। देवदर्शन में समय अधिक लगने लगा। खानपान में कुछ और कष्ट सहने की इच्छा हुई। पाठशाला के भोजन में कोई विशेषता नहीं थी, इसलिये उसमें तो कुछ त्याग न कर सका सिर्फ़ ऐसे ही नियम करता था कि किसी दिन घी नहीं खाना, किसी दिन दाल नहीं खाना, किसी दिन शाक नहीं खाना, एक या दो बार के सिवाय तीसरे बार कुछ न खाना, बीच में पानी आदि नहीं पीना। कुछ दिनों के लिये ऐसा भी नियम बना लिया था कि थाली में एक बार जो परोसा जायगा उतनाही खाकर उठ आऊंगा। फिर यह नियम बनाया कि दौआ (रसोइये को सब लोग दौआ कहते थे) जब तक परोसता रहेगा तब तक खाऊंगा अगर थाली खाली हो जायगी और दौआ न परोस पाया तो एक सेकिन्ड भी न रुककर भूखा ही उठ आऊंगा। इस प्रकार स्वर्ग और विदेह की लालसा से दौआ आदि को तंग करते करते

तपस्या करता रहा। वास्तविक तप क्या है इसका तो बड़े बड़े विद्वानों और वृद्धों को भी मुश्किल से पता लग पाता है और सौ में नब्बे तो जीवन भर नहीं समझते, फिर मुझे क्या पता लगता ? कुछ महिने तक तपस्या आदि का यह भूत सवार रहा बाद में अपने ही आप उतर गया। इन दिनों रात में बड़े मजे मजे के स्वप्न आते थे। दो स्वप्न तो अब भी याद हैं।

एक रात को मुझे यह स्वप्न आया कि मैं मरकर सोलहवें स्वर्ग में देव हो गया हूं। देव होने पर भी अप्सराएँ या सोने चाँदी के विमान न दिखे, दिखा सिर्फ यह कि मैं आसमान में बहुत ऊँचे चहलकदमी करता हुआ बराबरी के अनेक देवमित्रों के साथ नंदीश्वर द्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दना करने जा रहा हूँ और उन देवताओं से कह रहा हूं कि, "मुझे यह तो आशा थी कि मैं मरकर किसी अच्छी जगह जाऊंगा पर यह आशा नहीं थी कि मैं सोलहवें स्वर्ग तक पहुँच सकूंगा और आप लोगों के दर्शन कर सकूंगा"।

जब देवों से बातचीत करता हुआ मैं नंदीश्वर द्वीप जा रहा था तब सबेरा हो जाने से अर्थात् चार बज जाने से पाठ याद करने के लिये जगा दिया गया। ओह, उस समय कितना दुःख हुआ मानो सचमुच स्वर्ग से मर्त्य लोक में पटक दिया गया।

इस से बढ़कर स्वप्न एक दूसरे दिन आया कि मैं विदेहक्षेत्र में जिनेन्द्र हो गया हूं।

मैं बीचमें ऊँचे आसन पर बैठा हूं गणधर मुनि देव राजा सब चारों ओर नीचे बैठे हैं। मैं मन में सोच रहा हूं कि आखिर

चिरकाल से जो मेरी इच्छा थी वह पूरी हो ही गई, मैं जिनेन्द्र हो गया अब सिद्धशिला पर आसन जमाऊंगा और सदाके लिये इस संसार से छूट जाऊंगा। उस समय इतना ज्ञान नहीं था कि जैनियों की वर्तमान मान्यता के अनुसार जिनेन्द्र को सोच विचार करने का भी हक नहीं है और सिद्ध जीव सिद्ध शिलापर आसन नहीं जमाते। सिद्धशिला तो सिर्फ शोभा के लिये हैं वे तो उसे पारकर उसके ऊपर तनुवातवलय में समानतल पर लटकते रहते हैं। खैर, यही अच्छा था कि इतना नहीं समझता था, नहीं तो स्वप्न का मजा कुछ किराकिरा हो जाता। जब यह स्वप्न आही रहा था तभी सबेरा होने से फिर जगा दिया गया। समवशरण में सिंहासन के बदले जमीन पर बिछे हुए अपने बिस्तर पर जब अपने को पड़े पाया तब स्वर्ग के स्वप्न से भी ज्यादा खेद हुआ। स्वर्ग से तो आखिर कभी न कभी गिरना ही पड़ता है पर जिनेन्द्र होकर भी गिरना पड़ा यह कुछ कम दुर्भाग्य की बात नहीं थी। उस रात स्वप्न टूटने का मुझे इतना रंज हुआ कि मैं रजाई से सिर ढककर रोने लगा। धर्मग्रंथों के अध्ययन का कोमल हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका एक नमूना मैं था।

पीछे तो पाठशाला में धर्मशास्त्र का शिक्षण दिया जाने लगा और मुझे कृतकृत्यता का अनुभव होने लगा। धर्मशास्त्र के विषय में मेरी इतनी श्रद्धा थी कि जब कहीं मुझे यह समाचार मिलता कि अमुक को भूत लगा है तो मैं यह कहता कि मैं इस बात की तुरन्त जाच कर सकता हूं कि भूत सच्चा है या झूठा। मैं उससे पूछूंगा कि वह किस निकाय का देव है ? व्यन्तर निकाय का है तो

किन्नर किम्पुरुष महारोग गंधर्व यक्ष राक्षस भूत पिशाच में से कौन है ? उसकी उम्र क्या है उसने विदेहों में क्या देखा ? नंदीश्वर में क्या देखा ? अगर इन प्रश्नों का ठीक उत्तर (जैन शास्त्रों के अनुसार) दे देगा तो मैं सच्चा भूत मानूँगा। नहीं तो झूठा है यह साफ़ बात है।

मैं अन्य सब विषयों में साधारण था पर धर्मशास्त्र में सब से प्रथम रहता था। ऊँची कक्षा के विद्यार्थी भी धर्मशास्त्र के जनरल ज्ञान के लिये मेरा नाम लेते थे।

पर तीन चार साल पढ़ने पर भी मैं कुछ नहीं पढ़ पाया। लघुकौमुदी भी पूरी न हुई। कलकत्ते की प्रथमा भी नहीं दे पाया। शायद व्याकरण तो मैं जीवन भर भी पूरा न कर पाता। इस विषय में मैंने अपने को मूढ़ मान लिया था।

तब मुझे काव्य पढ़ने में लगाया गया। अध्यापक महोदय काव्य के प्रकांड पंडित थे पर मुझसे तो किरातार्जुनीय की मल्लिनाथी टीका घुटवाते थे। मेरा कहना था कि मल्लिनाथी टीका में जो जो बातें हैं वे सब मैं आपको अपने क्रम से सुना देता हूं। श्लोक की पूरी व्याख्या कर देता हूं पर रट कर उसी क्रम से सुनाऊँ यह मुझसे न होगा। अध्यापक जी को इस बात से सन्तोष न था। पर वे मुझसे प्रेम बहुत करते थे इसलिये उनके अनुरोध से जैसे तैसे टीका याद किया करता था।

इस समय तक धर्मशास्त्र में प्रवेशिका परीक्षा मैं पास कर गया था। मेरी तीव्र इच्छा थी कि किसी तरह सर्वार्थसिद्धि

पढ़ूं। पर उधर पंडित गणेशप्रसादजी से कुछ कहने की हिम्मत न पड़ती थी। इसलिये मैं आठ दस दिन की छुट्टी लेकर घर गया और वहाँ से एक पत्र लिखा कि आप मुझे सर्वार्थसिद्धि पढ़ावें तो आता हूं नहीं तो मोरेना जाता हूं।

मोरेना के नाम से पाठशाला के हर एक व्यक्ति का जी जलता था। उस समय मोरेना पं. गोपालदासजी बरैया के कारण धर्मशास्त्र की शिक्षा का सर्वोच्च केन्द्र बन गया था। इधर सागर पाठशाला के ब्राह्मण अध्यापक धर्मशिक्षण से बैर सा रखते थे। इसलिये वे जब देखो तब मोरेना विद्यालय की और पं. गोपालदासजी की निन्दा किया करते थे। उनका आक्षेप था कि दूसरे विद्यालयों और खासकर मोरेना की पाठशाला का शिक्षण उथला है जब कि सागर पाठशाला का ठोस है। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षण ठोस था, इतना ठोस कि उसमें ज्ञानका पौधा कठिनाई से ही ऊग सके। उस वातावरण का प्रभाव मुझ पर भी काफ़ी था। धर्मशास्त्र का भक्त होने पर भी मैं मोरेना विद्यालय का द्वेषी था। यह जानता था कि मोरेना जाने से सागर पाठशाला की इज्जत को बट्टा लगेगा, इसलिये मोरेना जाने की इच्छा नहीं थी पर अगर सागर पाठशाला के लोग मुझे सर्वार्थसिद्धि न पढ़ावें तो सर्वार्थसिद्धि पढ़ने के लिये यह पाप करने को भी तैयार था।

अगर मोरेना जाना पड़ता तो बड़ा दुःख होता क्योंकि उस समय भी मैं पूरा कूपमंडूक था। समझता था संसार में सब से बड़े विद्वान पं. गणेशप्रसादजी हैं, सब से अच्छी पाठशाला सागर की यह हमारी पाठशाला है। इतना ही नहीं, यह कूपमंडूकता ज्ञान के

विषय में भी थी । मैं समझता था कि संस्कृत में जो ज्ञान है वह कहीं नहीं है । संस्कृत पढ़ने से जगत में कुछ पढ़ने को नहीं रह जाता । यह पद्य रट रक्खा था—

संस्कृत भाषा ही इस जगमें सब की माँ कहलाती है ।
इसको भली भाँति पढ़ने से सब विद्या आ जाती है ॥

अंग्रेजी की निंदा करने के लिये कहता था जिनने अंग्रेजी पढ़ी उनका नाम कौन जानता है ? पर संस्कृत पढ़नेवालों को देखो, पाणिनीय कात्यायन पतञ्जलि और हमारे पंडित जी का नाम दुनिया जानती है ।

इतना तो समझता था कि दुनिया बहुत बड़ी है पर इतना नहीं जानता था कि सारी दुनिया सागर पाठशाला के साँचे में नहीं ढली है । सागर पाठशाला में जिसका नाम है उसका ही नाम दुनिया में है और जिनका यहाँ नहीं है उनका कहीं नहीं है यह कूप-मंडूकता बहुत दिनों तक रही, या तब तक रही जब तक सागर पाठशाला नहीं छोड़ दी ।

खैर, पंडितजी ने सर्वार्थसिद्धि पढ़ाना मंजूर कर लिया और मैं सागर पाठशाला में ही रहा । इस प्रकार मुझे धर्मशास्त्र की भूख बुझाने का अवसर मिला ।

अब तो प्रायः सभी जगह का शिक्षणक्रम बदला गया है पर उस समय शिक्षण क्रम ऐसा था कि बहुत दिनों में मैं बहुत कम पढ़ पाया । मेरी रुचि भी कुछ ऐसी थी कि मैं अध्यापकों से बहुत कम लाभ उठा पाया ।

इसके बाद मुझे जैन न्याय मध्यमा का कोर्स पढ़ाया जाने लगा। कलकत्ता युनिवर्सिटी के संस्कृत परीक्षा बोर्ड में जैन न्याय भी मंजूर हो गया था, और उस समय प्रथम परीक्षा देना ज़रूरी नहीं समझा जाता था। जैन न्याय का शिक्षण बड़े पंडितजी (पं. गणेशप्रसादजी) देते थे और वे कुछ महीनों के लिये बनारस जा रहे थे इससे हमारी परीक्षा मारी जाने का डर था। इसलिये मुझे और मेरे सहपाठी भाई दयाचन्दजी को वे बनारस ले गये। हम लोग गये तो तीन महीने के लिये थे पर परिस्थिति कुछ ऐसी बनी कि उसके बाद सागर पाठशाला का सम्बन्ध छूट ही गया।

[१०] तब के कुछ संस्मरण

सागर पाठशाला में रहते हुए अनेक तरह की विशेष घटनाएँ हुईं उनमें से कुछ तो ऐसी थीं जिनका जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ सिर्फ़ स्वभावप्रदर्शक ही थीं।

पुजारी—सागर पाठशाला में जाने के पहिले पूजा करने का जितना शौक था, सागर पाठशाला में जाने पर उतना न रहा। इसलिये विद्यार्थियों के साथ पूजा में बहुत कम शामिल होता था। प्रायः स्वाध्याय किया करता था। इसके लिये कुछ और कथाग्रंथ ढूढ़ लिये थे। लेकिन एकदिन मैं काकागंज के मन्दिर गया, यह मोहल्ला बस्ती के बहुत बाहर है एक तरह से पुरानी बस्ती के समान है। मराठों के समय में यह अच्छा रहा होगा। उस समय यहाँ जैनियों की काफी बस्ती होगी पर अब तो एक मन्दिर रह गया है। और उस समय वहाँ सिर्फ एक वृद्धा का घर था। वह वृद्धा ग़रीब

थी। शहर के अन्य मन्दिरों में जब पूजा करनेवालों को जगह नहीं मिलती थी तब यहाँ पूजा करने कोई नहीं आता था। वृद्धा ने एक पुजारी रक्खा था जिसे न तो पूजा याद थी, न वह अच्छी तरह पढ़ सकता था, न विधि का ज्ञान था। एक दिन जब मैं पर्युषण में वहाँ गया तो इस दयनीय दशापर मुझे दया आगई और फिर मैंने अच्छी तरह दो घंटे पूजा की। वृद्धा के आनन्द का पार न रहा। वह बड़े प्रेम से बोली-भैया, जब तक व्रत के दिन (पर्युषण) हैं तब तक तो हर दिन पूजा करा जाया करो और इकेत [एकाशन] भी हमारे यहाँ किया करो।

मैंने कहा--बउ, (माँ) पूजा तो हम हर दिन करा जाया करेंगे लेकिन इकेत पाठशाला में ही करेंगे।

बस, जब तक मैं सागर पाठशाला में रहा तब तक मैं वहीं पूजा कराने जाया करता था। काकागंज के मंदिर की पूजाएँ ही अंतिम पूजाएँ थीं, फिर तो पूजा से अरुचि हो गई। एक लम्बे समय के बाद जब सत्याश्रम में भ. सत्य भ. अहिंसा की मूर्त्तियाँ आईं तभी मैंने रुचिसे प्रार्थना की।

अपरेशन—बाल्यावस्था में दाहिनी आँख के ऊपर ललाट पर एक गट्टा था। मांसपिंड कठोर होकर हड्डी और चमड़ी के बीचमें पत्थर की गोली की तरह रह गया था, जो उँगली लगाने से इधर उधर हो जाया करता था। उसका दर्द बिलकुल नहीं था पर देखने में जरा बुरा माल्रूम होता था।

मेरे पिताजी तथा अन्य लोगोंने इस का कारण ढूंढ़ निकाला था, कि मेरी आँख पर यह गट्टा क्यों है। उनके मतानुसार मैं

पहिले जन्म में मास्टर भोजराज था । मास्टर भोजराज मेरे मामा थे जो कि मेरे पैदा होने के कुछ समय पहिले मर चुके थे । वे सरकारी स्कूल में मास्टर थे, अकाल में सरकार की तरफ से पीड़ितों को अन्न बाटने का प्रबन्ध भी उनके जिम्मे डाला गया था इसलिये वे आसपास में छोटे से नेता बन गये थे । परन्तु अन्य भाइयों और कुटुम्बियों के कारण उन्हें ऋण लेना पड़ा और ऋण चुकाने के पहिले ही वे मर गये । वही ऋण की पोटली मेरे ललाटपर जमकर बैठी थी ।

मेरे पिताजी आदि का दृढ़ विश्वास था कि मैं पूर्वजन्म का अपना मामा ही हूं । इस का कारण वे यह बतलाते थे कि मेरे गर्भ में आने के पहिले मेरे मामा भोजराजने उन्हें और मेरी माँ को यह स्वप्न दिया था कि अब मैं तुम्हारे घर में आता हूं । इस स्वप्न के बाद ही मैं गर्भ में आया ।

दूसरा कारण यह था कि मैं अपनी एक मामी (भोजराजजी की विधवा पत्नी) की गोद में जाते ही शरमिन्दा होकर आँखें बन्द कर लेता था । मुझे तो कुछ मालूम नहीं पर पिताजी वगैरह इस का यह अर्थ लगाते थे कि मेरी वह मामी पहिले जन्म की पत्नी है । मुझे पहिले जन्म की याद आजाने से मैं उसे पत्नी समझकर गोद में नहीं जाता ।

मुझे क्या याद आता था इस की मुझे अभी तक याद नहीं है । पर हाँ पिताजी की बातें सुनकर मैं बहुत दिन तक अनुभव करता रहा कि मैं पहिले जन्म का भोजराज हूं । एक बार मेरे

पिताजीने मेरी मामी को दिखलाया तो सचमुच में शरमिन्दा हो गया। क्यों कि पिताजी आदि की बातें सुन रक्खी थीं। इससे भी सब लोगों का दृढ़ विश्वास हो गया कि मैं सचमुच भोजराज हूं।

सौभाग्य या दुर्भाग्य से उस समय समाचारों पत्रों का इतना फैलाव नहीं हुआ था और मेरे पिताजी आदि भी अशिक्षित थे, नहीं तो थोड़ीसी ही कोशिश से उस शैशव में ही पुनर्जन्म की कहानी निकलवाई जासकती थी। और मेरी आत्मकथा उस शैशव में ही समाचार पत्रों में रँग गई होती, मेरे चित्र भी घर घर में पहुँच गये होते, और मेरे पिताजी को भी काफी ख्याति मिली होती। खैर, मैं भले ही इस सौभाग्यसे वञ्चित रहा होऊँ पर इससे मानवजाति के सौभाग्य को जरा भी धक्का नहीं लगा।

हां, बात तो ललाट पर के गड्ढे की कर रहा था। यह गड्ढा बुरा लगता था। एक दिन न जाने किस कामसे मैं सागर की बड़ी अस्पताल चला गया, वहाँ सिविलसर्जन आँखके अपरेशन कर रहा था। मुझे बड़ा कुतूहल हुआ। मैंने सिविल सर्जन से कहा— मेरे इस गड्ढे का अपरेशन कर सकते हो? सिविलसर्जन कुछ मुसकराया। एक बालक के भोलेपन से उसे कुछ आश्चर्यसा हुआ। वह एक प्रौढ़ अंग्रेज था, अंग्रेज होने पर भी वह अच्छी हिन्दी में बोला— कर सकते हैं। मैंने कहा—कब करोगे। बोला—कल करेंगे। मैं दूसरे दिन एक विद्यार्थी को साथ लेकर चला गया। पिताजी को खबर ही नहीं दी। पर दूसरे दिन भी सिविलसर्जन को फुरसत नहीं मिली। उसने फिर दूसरे दिन आने को कहा— मैं फिर दूसरे दिन गया। उसने अपरेशन करना मंजूर किया

और मुझे बेहोश करने को क्लोराफार्म सुंघाया । उस की गंध मुझे इतनी अप्रिय मालूम हुई कि उस की याद से मुझे सदा भय लगता था।

क्लोरोफार्म सूंघते समय मैंने इस बात की बहुत कोशिश की कि मैं बेहोश नहीं होऊंगा पर मानों इच्छा के विरुद्ध अनन्त में या शून्य में विलीन हो गया । अपरेशन को सिर्फ चार मिनिट लगे पर मैं उसके पहिले ही होश में आ गया । उस समय घाव में टांके लगाये जा रहे थे । मैंने सोचा अगर मैं हिलूंगा तो फिर ये क्लोरोफार्म सुंघा देंगे इसलिये चुपचाप वेदना सहता रहा । इसके बाद डाक्टरों ने कहा-आज अस्पताल में ही रह जाओ, पर मैं तो दौड़ता हुआ पाठशाला में आया । यह दौड़ना कुछ भारी हुआ । रात में घाव इतना भर गया कि मेरी आँख ढक गई और बेहिसाब वेदना हुई । रात में पिताजी भी आ गये । दूसरे दिन टांके खोल देने पर वेदना कम हुई और धीरे धीरे घाव आराम होगया । इस प्रकार पूर्व जन्म के ऋण की पोटली से पिंड छूटा । इसके लिये मुझे सिर्फ १॥) खर्च पड़ा । वह भी आराम हो जाने पर एक डाक्टर और कम्पाउन्डर को इनाम के रूप में ।

कवित्व—मैं अपने को कवि नहीं मानता । पर पद्यकार को कवि कहने का रिवाज है इसीलिये इस शब्द का यहां प्रयोग किया गया है । मेरे इस कवित्व की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति का कारण एक मनोरंजक घटना है ।

जब मैं सागर पाठशाला में पढ़ता था तब एक दिन एक विद्यार्थी से झगड़ा हो गया और उसने मुझे धक्का मार दिया । वह शारीरिक बल में अधिक था इसलिये मैं चुप रहा । पर इस अपमान

का बदला किसी दूसरे उपाय से अवश्य लेना चाहिये इसी चिन्ता में घुलने लगा। अन्त में मैंने उसकी निन्दा में कुछ दोहे बनाये। दोहे क्या थे गालियों की तुकबन्दी थी। दोहे हो गये पच्चीस, और नाम रक्खा गया दुष्टपच्चीसी। बस मैं एक एक विद्यार्थी को एकान्त में ले जाता और उसे दुष्टपच्चीसी सुनाता। विद्यार्थी बहुत खुश होते। इसलिये नहीं कि मैं कवि बन गया था किन्तु इसलिये कि निन्दा के लिये उन्हें खुराक मिली थी। निन्दकता मनुष्य के स्वभाव में शामिल हो गई है। निन्दा से मनुष्य को कुछ मिलता तो है नहीं, फिर भी मनुष्य परनिन्दा से खुश होता है, मित्र कहलाने वालों की निंदा से भी बहुत खुश होता है इसका कारण सिर्फ यही कहा जा सकता है कि परनिन्दा से मनुष्य को कल्पित सन्तोष मिलता है, उसके अहंकार को खुराक मिलती है। वह सोच लेता है कि देखो मेरा साथी इस प्रकार दूसरों से निंदनीय है जब कि मैं नहीं हूं इस प्रकार मैं महान हूं। खैर, दुष्टपच्चीसी सुनकर लड़के खुश होते, जिसके लिये मैंने दुष्टपच्चीसी बनाई थी उसे चिढ़ाते और मेरे मन में सन्तोष होता कि अच्छी तरह बदला लिया जा रहा है।

चार छः दिन बाद उसने मेरे पाकिट में से दुष्टपच्चीसी निकाल कर उसकी नकल करके एक अध्यापक को देदी, पर इस बात का मुझे पता न लगा क्योंकि मेरी डायरी जहां की तहां रक्खी थी। उस अध्यापक ने मुझसे इस दुष्टता का कारण पूछा। पहिले तो मैं सहमा, पर वे अध्यापक नये थे, उम्र भी कम थी, उनका संकोच मैं कम करता था इसलिये दृढ़ता से उत्तर दिया--आप ही बताइये मैं क्या करता? इनने मुझे निरपराध धक्का मारा,

आप से कहता तो आप छोटी बात कहकर उपेक्षा कर जाते पर इससे मेरे दिल को जो चोट पहुँची, मेरा जो अपमान हुआ वह कोई न समझता इसलिये मैंने इस प्रकार बदला लिया। जिनके पास पशुबल था उनने पशुबल का उपयोग किया जिसके पास बुद्धिबल था उस ने बुद्धिबल का उपयोग किया।

सागर पाठशालाका जैसा वातावरण था उसके अनुसार किसी विद्यार्थी का इस प्रकार निर्भयता से उत्तर देना और तर्क करना हिमाकत या उद्दंडता का परिचय देना था। इसलिये इस मामले की अपील पं. गणेशप्रसादजी के पास हुई। पर उनने इस मामले को दूसरी धारा देदी।

एक दिन उनने मुझसे एकान्त में कहा—दरबारी, तुम कविता तो अच्छी बनाते हो।

मैं उस बात को समझकर शरमिन्दा होकर सिर झुकाकर खड़ा रहा। पं. गणेशप्रसादजी के सामने तार्किकता बघारने की उस समय हिम्मत नहीं थी। और भी कोई विद्यार्थी उनके सामने कुछ अधिक बोलने की हिमाकत न कर सकता था। मुझे लज्जित देखकर उनने सिर्फ इतना कहा—तुमने अपनी कवित्व शक्ति का उपयोग गालियों में न करके भगवान की प्रार्थना में किया होता तो कितना अच्छा होता? तुम समझदार हो तुम से कुछ अधिक नहीं कहता, अच्छा जाओ।

मैं चला आया। मुझे मालूम हुआ कि मुझ में कवित्व शक्ति है और मैं समझदार भी हूं। बस, तुरन्त कविता बनाने बैठ गया

और शाम तक एक प्रार्थना बना डाली। पं. गणेशप्रसाद जी को बनाई, सुनकर उनने बहुत तारीफ की। उसमें कवित्व तो था ही क्या, केवल तुकबंदियाँ थीं इसलिये तारीफ कदाचित इसलिये की गई कि मेरा रुख बदल गया था।

इसके बाद तुकबन्दी करने का शौक हो गया। कुछ दिनों बाद एक कविता मैंने जैनगजट में भेजी। वह मुखपृष्ठ पर छपी, सिर्फ दो पंक्तियाँ दूसरे पेज पर गईं, उन्हीं के नीचे मेरा नाम था। अंक जब पाठशाला में आया तब पं. गणेशप्रसादजी मुखपृष्ठ की वह कविता पढ़ने लगे। उस समय पं. लोकनाथजी और बहुत से विद्यार्थी भी बैठे थे। पंडितजी पहिले तो यही समझे कि वह किसी कवि की कविता है पर जब दूसरा पृष्ठ पलटने पर मेरा नाम देखा तब सबके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मुझे खूब शाबासी दी गई। मेरा दिल बढ़ गया। इसके बाद कविताबाचन का मुझे बड़ा शौक लग गया। यहां तक कि घूरे पर कोई कागज पड़ा होता और उसमें कविता होती तो मैं उठाकर पढ़ लेता। इसका एक परिणाम यह हुआ कि छन्दशास्त्र का ज्ञान न होने पर भी कविता में छन्दोभंग न होता था। लयपर जमा लेने से छन्द की अशुद्धि निकल जाती थी। हिन्दी के छन्द शास्त्र का अध्ययन तो अध्यापक होने के बहुत दिन बाद किया।

वक्तृत्व—वक्तृत्व प्राप्त करनेको उत्तेजन कैसे मिला इसका भी छोटासा इतिहास है। एक बार दमोह के जैन मन्दिर में सभा हुई। सभा में स्थानीय पाठशाला के विद्यार्थियों के भी भाषण हुए। उन लोगोंने लिखा हुआ व्याख्यान पढ़ा। पर मैं सागर पढ़ने गया था

इसलिये दमोह के लोगों की दृष्टि में तो मैं पंडित हो गया था, जब कि उस समय तक मैं धर्मशास्त्र में सिर्फ रत्नकरण्ड श्रावकाचार के बारह श्लोक पढ़ा था। लोगोंने मुझे व्याख्यान के लिये खड़ा कर दिया। पर आज तक कभी व्याख्यान के लिये न तो खड़ा हुआ था और न इतना कुछ पढ़ा था कि व्याख्यान दे सकता। खड़े हो कर और तो कुछ न बना रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक अर्थ सहित सुनाने लगा। जब बारह श्लोक पूरे हो गये तो मेरी गाड़ी रुक गई। उपसंहार करना तो दूर, इतना भी कहते न बना कि जो कुछ मुझे कहना था कह चुका अब बैठता हूं। बस, यों ही खड़ा का खड़ा रह गया। जब किसी ने कहा बैठ जाओ तो बैठ गया। उस समय इतनी शर्म मालूम हुई कि उस का असर कई महीने तक दिल पर रहा। और यह सोचता रहा कि कोई मौका मिले तो व्याख्यान देना सीखूं।

जब सागर पाठशाला में
हुई तो मैं मंत्री बना और उसमें
शुरु किया। मंत्री था इसलिये रि... [illegible]
लिखता था। इस प्रकार वक्तृत्व और लेखन दोनों को उत्तेजन मिला।

सभा की तरफ अन्य विद्यार्थियों की रुचि थोड़े दिन तो रही, बाद में मिट गई। सभा में विद्यार्थी पाँच सात ही आते थे पर मैं तो दो विद्यार्थियों तक में व्याख्यान देता था। लेकिन यह अच्छा न मालूम हुआ इसलिये पं. गणेशप्रसादजी से शिकायत कर दी। उनने विद्यार्थियों को खूब डाँटा। और जब बादमें विद्यार्थी मुझ पर बिगड़े कि तुमने पंडितजी से शिकायत क्यों कर दी? तब मैंने साफ कहा--

मुझे व्याख्यान देना सीखना है, आप लोग व्याख्यान दें तो अच्छी बात है, व्याख्यान देना आजायगा, नहीं तो इतनी देर तक अवश्य बैठें जब तक मेरा व्याख्यान न हो जाय। यदि ऐसा न करेंगे तो मैं पंडितजी से शिकायत कर दूंगा।

सभा के लिये सभापति कोई न मिलता था रिपोर्ट से सभा का प्रारम्भ होता और मेरे व्याख्यान से उसकी समाप्ति। इस प्रकार बोलने का अभ्यास बढ़ाया। और लिखना भी व्याख्यानों की रिपोर्ट लिखने से सीख गया।

व्याख्यान सभा का मेरे लिये एक उपयोग और भी था। जब कोई विद्यार्थी मुझ से लड़ता या मेरी बात न मानता तो बिना नाम लिये ही उन बातों का उपयोग व्याख्यान में करता। विरोधी विद्यार्थी को आड़ी टेढ़ी बातों से सिद्धान्त और नीति की दुहाई के रूपमें खूब फटकारता। लड़ते समय तो कोई दो के बदले चार सुनादे पर व्याख्यान में क्या करे? व्याख्यान देना हर एक को आता नहीं था और व्याख्यान के विषय में वह लड़ भी नहीं सकता था। पीछे कोई कुछ कहता तो मेरा उत्तर यह होता कि वह मेरा व्याख्यान था। व्याख्यान के विषय में लड़ाई कैसी। इस प्रकार पिछले दिनों विद्यार्थी मंडल में मेरी काफ़ी धाक रही। सब लोग मुझसे डरते थे कि न मालूम यह व्याख्यान में किस को कैसे ले बैठे। इससे मुझे अपनी महत्ता का थोड़ा थोड़ा भान होने लगा। मनुष्य में जब तक पशुता है तब तक वह भयंकरता को ही महत्ता का मुख्य रूप समझता है।

चौका पंथ--सागर पाठशाला में चौके का विचार तो रक्खा जाता था जोकि थोड़ा बहुत समझ में आता था पर वहां जो ब्राह्मण अध्यापक थे उनका चौकापंथ बिलकुल समझ में नहीं आता था। हमारे नैयायिक जी मैथुलदेश निवासी थे। वहां ब्राह्मण लोग मांस मछली का शाक, केंचुए झिंगुर आदि बरसाती कीड़ों का अचार तक खाते हैं। हमारे नैयायिकजी ने जलचरों के वनस्पति सूचक नाम रख छोड़े थे। जैसे मछली को वे जलसेम कहते थे, इसी प्रकार जलतोरई जलककड़ी आदि बहुत से नाम थे। ऐसे सर्वभक्षी पंडितजी चौके का बड़ा विचार करते थे। मुझे कभी कभी उनके चौके में लकड़ी ले जाना पड़ती थी। एक दिन लकड़ी ले जाते समय मेरा पैर चौके की किनारके कुछ भीतर पड़ गया। उस समय उनकी रसोई बन रही थी पर मेरा पैर पड़ने से सब रसोई अशुद्ध हो गई। मुझे काफी गालियाँ खाना पड़ीं। मुझे इन सब बातों के रंज की अपेक्षा इस बात को आश्चर्य ही अधिक था कि पेट में तो मुर्दा मांस तक चला जाता है उससे मुँह और पेट अशुद्ध नहीं होता और चौके में मेरा पैर पड़ जाने से सब अशुद्ध हो गया। इतने बड़े नैयायिकजी इतना न्याय क्यों नहीं समझते।

चौकापंथ में शुद्धि अशुद्धि से कोई मतलब नहीं था। एक तरह का जातिमद, और अमुक अंश में व्यक्तित्वमद ही इसके मूल में था और रहता है। व्यक्तित्वमद की भी एक बात याद आती है। एकबार प्रवास में, जब कि सागर पाठशाला के विद्यार्थी और कर्मचारी बरवासागर से बैलगाड़ियों में लौट रहे थे, रास्तेमें एक जगह रोटी बनी। उस समय एक विद्यार्थी के हाथ से जूंठी थाली

में से कुछ छींटे दालके बर्तन पर गिर गये। दाल तो ढकी हुई थी इसलिये उस में कोई छींटा न पड़ा फिर भी वह दाल किसीने न खाई। कार्यकर्ताओं ने कोशिश की कि विद्यार्थी यह दाल खालें, इसके लिये उनने व्याख्यान भी दिया कि बर्तन के ऊपर छींटे पड़ने से कोई दोष नहीं है, दोष तो वहां है जहां दो आदमियों की लार मिल जाय। पर यह तत्त्वज्ञान हम लोगों को इसलिये न जँचा कि कार्यकर्ताओं ने सिर्फ अपने लिये अलग दाल बनवाई थी। वे छींटेवाली दाल खुद न खा सकें। यहां शुद्धि अशुद्धि के मूल में व्यक्तित्वमद था।

स्वास्थ्य और सफाई के लिये बने हुए ये नियम जातिमद और व्यक्तित्वमद के शस्त्र बनकर आज मानव-मानव के बीच में खाई बने हुए हैं। प्रेम होने पर भी ये आवश्यक सहयोग से वंचित रखते हैं और जहाँ क्रोध अभिमान आदि का कारण नहीं है वहाँ मनुष्य को क्रोधी अहंकारी आदि बना देते हैं। अशिक्षितों को किसी तरह इस पाप के लिये क्षमा किया जा सकता है पर शिक्षितों और शिक्षण-संस्थाओं में यह पाप हो तो क्षमा नहीं किया जा सकता।

ये सागर पाठशाला के कुछ संस्मरण हैं। उस समय पाठशाला का रूप विकसित नहीं था इसलिये त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है पर सागर पाठशाला के उपकार मेरे ऊपर बहुत अधिक हैं। मेरे जीवन की पहिली धारा बदल देने का श्रेय उसे ही है।

(११) विवाह

मैं उन अभागियों में से हूं जो बाल विवाह की कुप्रथा के शिकार कहे जा सकते हैं। यद्यपि उसका शिकार होकर भी मैं इस

जीवन में सत्यदर्शन कर सका, पर इससे मेरी शारीरिक हानि कैसी हुई, चार पांचवर्ष तक मुझे कैसी घोर मानसिक वेदना सहना पड़ी, किस प्रकार गरीबी की ज्वालाओं को ईंधन मिला, किस प्रकार शिक्षण नष्ट होते होते बाल बाल बचा, इन सब बातों की जब याद आती है तब आज पच्चीस वर्ष बाद भी सिहर उठता हूँ और तुरन्त ही उस महाशक्ति को धन्यवाद देता हूँ जिसकी कृपा से उन विपत्ति और विघ्नों से बचकर आज की हालत में आ सका हूँ।

बुआ के देहान्त के बाद पिताजी अलग रहने ही लगे थे। मैं सागर पाठशाला में पढ़ता था। इस बीच पिताजी लम्बे समय के लिये बीमार पड़े, उस समय वे सोचने लगे कि अगर मैं मर जाऊँ तो मेरा लड़का बिलकुल अनाथ हो जायगा। उसका पालन-पोषण कौन करेगा? कौन उसकी मदद करेगा, धनहीन और कुटुम्ब- हीन लड़के की शादी भी कौन करेगा? शायद जन्म भर कुँवारा ही रह जाय इसलिये बीमारी से उठते ही मैं अपने लड़के की शादी कर दूँगा। उनकी इस हितैषिता का फल यह हुआ कि मुझे बाल-विवाह की वेदी पर चढ़ना पड़ा।

अभी कुछ समय पहिले इंग्लैंड में एक घटना हुई थी कि एक वृद्धाने अपने बहुत बीमार होने पर यह विचार किया कि इस असमर्थ बच्चे का पालन कौन करेगा यह तो असहाय बनकर दुर्दशाग्रस्त होकर मर जायगा। बच्चे की उस दुर्दशा के चित्र से वृद्धा रोने लगी और अंत में उसने करुणावश या मोहवश बच्चे को

गस की नली से आराम से मार डाला और खुद मरने की प्रतीक्षा करने लगी। पर वह मरी नहीं, कुछ दिन बाद अच्छी हो गई। मुक़दमा चलने पर कोर्ट ने तो उसे फांसी की सज़ा सुनाई परन्तु कोर्ट की सिफ़ारिश से ही सम्राट् ने उसे माफ़ कर दिया। सचमुच वृद्धा का अपराध माफ़ कर देने लायक था क्योंकि जो कुछ उसने किया था प्रेमवश किया था। यह उस बच्चे का दुर्भाग्य और वृद्धा की मूर्खता समझना चाहिये कि वह माता के वात्सल्य का शिकार हो गया।

इसी प्रकार पिताजी ने इस भ्रम के कारण कि उनके अकस्मात् स्वर्गवासी होने पर मेरी बहुत दुर्दशा होगी मुझे बालविवाह की वेदी पर चढ़ाने का निश्चय कर लिया।

मेरे एक दूर के रिश्तेदार थे जिन के एक मात्र पुत्र का देहान्त हो चुका था एक पुत्री रह गई थी जिस का विवाह वे मेरे साथ कर देना चाहते थे। बीस पच्चीस तोले के सोने के आभूषण भी वे मेरे यहां रख गये थे। पर मेरे पिताजी को उनसे काफ़ी घृणा थी। क्योंकि वे किसानों से प्रतिमास एक आना रुपया व्याज लेते थे और कभी कभी हिसाब में गड़बड़ी करके उन्हें और ठगते थे। इसलिये पिताजी कहा करते थे कि इनका धन बेईमानी का है इसलिये इनकी लड़की से अपने लड़के की शादी न करूंगा। एक दिन पिताजी ने उक्त श्रीमान् के सब आभूषण वापिस कर दिये। इस प्रकार यह सम्बन्ध टूट गया।

पिताजी भावुक थे परन्तु उनकी भावुकता ने ही इतना त्याग करने को विवश किया था वह बात नहीं मालूम होती।

निःसन्देह हम लोग ग़रीब थे और उस विवाह से पच्चीस पचास हज़ार रुपये की सम्पत्ति के मालिक हो जाते। इतनी बड़ी सम्पत्ति का प्रलोभन जीतना कुछ सरल नहीं था पर एक बात और थी कि जिस से पिताजी इस प्रलोभन को जीत सके।

उक्त श्रीमान् मुझे घर-जमाई बनाना चाहते थे। इसका यह परिणाम होता कि पिताजी की उस घर में इज्ज़त न रहती। पुत्रवधू अपने मां बाप के घर में अपनी पैतृक सम्पत्ति पर रहे तो पति की भी इज्ज़त नहीं करती फिर ससुर की तो बात ही क्या है? पिताजी ने यह सोचकर कि इतनी जायदाद मिलकर भी अन्त में तो मुझे अपमान तिरस्कार आदि ही मिलेगा, धन के पीछे लड़का हाथ से चला जायगा, वह सम्बन्ध न किया।

ख़ैर, उनने अपने लिये कुछ भी सोचा हो पर मेरा तो उससे कल्याण ही हुआ। अगर वह सम्बन्ध हो जाता तो मुझे पढ़ना छोड़कर मासिक एक आना रुपया की साहुकारी सँभालने में लग जाना पड़ता। सत्येश्वर के दर्शन कर सकने वाले एक ग़रीब सत्यभक्त के स्थान में मुफ्त का माल पाकर गुलछर्रे उड़ाने वाला एक अविवेकी युवक दिखाई देता।

वह सम्बन्ध तोड़ देने पर पिताजी ने दूसरा सम्बन्ध करने का निश्चय किया और वह सम्बन्ध शाहपुर (सागर सी. पी.) के श्रीगनकूलालजी की पुत्री के साथ तय हुआ। श्रीगनकूलालजी के घर में इस विषय में काफ़ी मतभेद था। मेरी सासू का कहना था कि यह सम्बन्ध अच्छा नहीं है घर में धन नहीं, कोई कुटुम्बी

नहीं, रहने के लिये घर तक नहीं, लड़की को इससे महान् कष्ट होगा। पुरुषवर्ग का कहना था कि लड़का अच्छा है पढ़ता है आज नहीं तो कल कमा खायगा। यह भी एक आपत्ति थी कि शाहपुर के विवाह का खर्च मेरे पिता न सँभाल पायेंगे। परन्तु पिताजी इस सम्बन्ध पर तुले हुए थे। शाहपुर मेरी जन्मभूमि, पिताजी का घर, परिचय और रिश्तेदारी का पूरा सुख था। इसलिये यह सम्बन्ध तय हुआ और मुझे सगाई की सूचना भेजी गई। सूचना मिलते ही मैं तड़प उठा। मुझे इस बात का खेद हुआ कि मेरी पढ़ाई छूट जायगी। इसलिये पिताजी को मैंने एक पत्र लिखा उसमें उन्हें खूब फटकारा था, उग्र से उग्र शब्दों में लिखा था कि मेरे जीवन का वे कैसे सत्यानाश कर रहे हैं एक प्रकार से मेरी हत्या कर रहे हैं।

यह पत्र मैंने अपने एक साथी को बताया उसने मेरा सारा जोश ठंडा कर दिया। जोश में कुछ दम तो था ही नहीं, उसने पत्र पढ़कर नाक सिकोड़ी और मैंने पत्र फाड़ कर फेंक दिया और निश्चित दिन घर जा पहुँचा।

यह मैंने सोच लिया था कि अब पाठशाला में मुझे जगह न मिलेगी। पाठशाला के किसी विद्यार्थी का विवाह नहीं हुआ था इसलिये समझ लिया था कि पाठशाला में विवाहित को जगह नहीं है। परन्तु जब मैं घर चलने लगा तब पं. गणेश-प्रसादजी ने कहा—अब घर ही मत रह जाना जल्दी चले आना। उनका यह आदेश सुनकर मैं चकित हुआ और अपने ऊपर यह विशेष कृपा समझी। उनने तो यह अनुरोध साधारण ढंग से ही किया था

पर इस छोटीसी बात ने मुझे मानों जीवन दे दिया । हमारे जीवन में छोटी छोटी न जाने कितनी घटनाएँ होती रहती हैं कि उनके होने न होने से हमारे जीवन में स्वर्ग नरक का अन्तर पड़ जाता है । छोटा भी कितना महान है और महान भी कितना क्षुद्र है, इसका अच्छा से अच्छा नमूना हमारा जीवन है ।

विवाहविधि वही पुराने ढंग से हुई । सागर दमोह के दिगम्बर जैनियों में विवाह विधि के लिये ब्राह्मण की, संस्कृत मंत्रों की या शास्त्रों की ज़रूरत नहीं होती । विवाह का आचार्यत्व किसी ख़ास स्त्री या पुरुष को नहीं किन्तु वृद्ध स्त्री पुरुषों, ख़ास कर स्त्रियों को मिलता है ।

विवाह में कितने रीति रिवाज़ थे उन सब का स्मरण अब नहीं है । निःसन्देह वे किसी आवश्यक घटना के अन्ध--अनुकरण होंगे । उन में से अधिकांश का मूल किसी को मालूम नहीं है । पर वे परम्परा से चले आते हैं । कुछ रीति रिवाज़ वर की होश्यारी और शिक्षण की परीक्षा के लिये थे, कुछ वर--पक्ष के अत्याचारी-पन के स्मारक के रूप में थे, कुछ वर पक्ष को कुछ भेंट देने के ढंग के रूप में बनाये गये थे ।

एक जल पात्र में सुपारी डाली जाती थी और वर कन्या उस सुपारी को निकालते थे जो पहिले निकाल ले वही होश्यार समझा जाता था । यह चञ्चलता की परीक्षा के लिये था ।

एक थाली में आटा डालकर 'ओनामासी धं' [ओं नमः सिद्धेभ्यः का भ्रष्ट रूप] लिखाया जाता था । थाली में आटा

डालकर लिखाने का कारण यह था कि पुराने जमाने में स्लेट पेंसिल का आविष्कार नहीं हुआ था। यह लिखाना लेखनकला के परीक्षण के लिये था। लड़की से उसी थाली में घड़ा वगैरह बनवाया जाता था इस प्रकार लड़की की परीक्षा चित्रकला आदि में ली जाती थी। किसी ज़माने में इन परीक्षाओं का उपयोग रहा होगा पर आज तो बिलकुल निरर्थक और हास्यास्पद हैं।

एक रिवाज़ यह था कि बारात की बिदाई के समय वर श्वसुर गृह के चौके में जूता पहिने जाया करता था और रसोई के चूल्हे को जुते से ठुकराता था, कुछ दूल्हे इतने ज़ोर से लात मारते थे कि चूल्हा फूट जाता था और दूसरे दिन कन्यापक्ष के लोगों को रोटी बनाने तक की तकलीफ़ होने लगती थी। मुझे भी चूल्हे में लात मारने के लिये ले जाया गया। मेरी सासूने कहा कि चूल्हे को लात मार दो। चौके में जूता पहिन कर आने में ही मैं बहुत संकुचित हो रहा था फिर जब चूल्हे में जूता मारने की बात कही तब तो बहुत ही लज्जित हो गया। सोचा—जिस चूल्हे पर सास ससुर के लिये रसोई बनती है कल जहाँ मुझे भी भोजन करने के लिये आना पड़ेगा उसको जूते से ठुकराना कहाँ की मनुष्यता है ? मुझे कुछ विचार में पड़ा देखकर सासूजी ने फिर कहा--क्या सोचते हो लाला, चूल्हा फोड़ मत देना। इधर मैं चौके में जूता पहिन के आने के संकोच से ही गला जा रहा था चूल्हा फोड़ने की बात तो दूर रही। मैंने कहा—मुझ से यह न होगा, मैं चूल्हे में लात नहीं मार सकता। पर सासूजी ने कहा—ऐसा नहीं हो सकता तुम धीरे से लात मार दो, नहीं तो कल

इस पर रोटी न बन सकेगी। मैंने बहुत धीरे से उधर पैर बढ़ाया और निकल कर भागा जैसे खूनी खून करके भागता है।

उस समय इस रिवाज़ का कारण समझमें नहीं आया था, अब कुछ कल्पना करता हूँ कि इस रिवाज़ का बीज उस ज़माने में है जब विवाह के भेदों में राक्षस विवाह भी गिना जाता था। वरपक्षवाले कन्यापक्षवालों को मार पीटकर पैरों की ठोकर से उन्हें और उनके चूल्हे को फोड़कर कन्या-हरण करके ले जाते थे। विवाह का अर्थ था कन्या के लिये किसी कन्यावाले के घर डाका डालना। उसी बर्बरता का भग्नावशेष यह विवाहविधि है। परवारों में यह रिवाज़ कैसे आया कुछ समझ में नहीं आता। शायद इन रिवाज़ों के आधार पर कुछ खोज की जाय तो परवारों के इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़े।

बहुत से रिवाज़ आर्थिक थे। शक्कर के थाल भरना आदि रिवाज़ों का मतलब यही मालूम होता है कि दोनों पक्षों से अगर किसी पक्ष के पास कोई चीज़ की कमी हो तो इस आदानप्रदान के द्वारा वह पूरी हो जाय और किसी को पता भी न लगे। मूल अच्छा है पर अब उस ध्येय की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं है।

अर्थ-मूलक रीतिरिवाज़ों में अधिकांश रिवाज़ दहेज के अंग थे। यद्यपि मैं उस समय कुछ विशेष पढ़ालिखा नहीं था फिर भी दहेज की अन्यायता मेरी समझमें आ चुकी थी। दहेज के विषय में यह खयाल तो था ही कि यह कन्या पक्ष के ऊपर अन्याय है परन्तु इससे भी अधिक यह खयाल था कि दहेज लेना

एक तरह का भिखमंगापन है, कन्या के पिता से कुछ माँगना भीख माँगना है। मर्द वह है जो मुफ्त में किसीसे एक पैसा भी नहीं लेता न किसी से माँगता है। स्त्री के धन से धनवान बनना या अपनी गुज़र करना अपने पुरुषत्व को लजाना है।

मेरे इन विचारों में एक तरह का विवेक तो था, परन्तु इससे भी ज्यादा था घमंड। इसी घमंड के कारण मैंने निश्चय किया था कि विवाह में ससुरालवालों से मैं कुछ भी नहीं माँगूंगा। आर्थिक ग़रीबी के कारण, पुराने संस्कारों के कारण, आर्थिक मामलों में अधिकारी न होने के कारण और कुछ लोभी होने के कारण, मैं यह निर्णय तो नहीं कर सका कि ससुरालवालों से एक भी पैसा न लूँगा, वे ख़ुशी से देंगे तो भी न लूँगा, परन्तु इतना निर्णय कर सका कि उन्हें पैसे के लिये तंग न करूंगा, अपनी तरफ़ से कोई माँग पेश न करूंगा, जो देंगे उसी में सन्तुष्ट हो जाऊँगा। जब पलकाचार हुआ तब मैंने किसी को भी न पकड़ा। पलकाचार में वर कन्या पलंग पर एक दूसरे के सामने मुँह करके बैठाये जाते हैं। कन्यापक्षवाले एक एक करके आकर दोनों के पैर छूते हैं और कुछ भेंट देते हैं, इसी समय वर उनको पकड़ लेता है। वह उन्हें बड़ी देर तक पकड़ रखता है और वे लोग धीरे धीरे कुछ अधिक दक्षिणा देते जाते हैं और छूटते जाते हैं। वर पक्षवाले पास बैठे बैठे वर को सिखाते जाते हैं कि इससे इतना लेना, अभी मत छोड़ना आदि। इस प्रकार १५ मिनिट का काम चार चार पाँच पाँच घंटों में पूरा होता है।

पर मैंने किसी को भी पकड़ने से साफ़ इनकार कर दिया।

बारातियों ने मुझे बहुत सिखाया पर मैंने कह दिया कि जिसको जो कुछ देना हो दे, न देना हो न दे, मैं किसी को पकडूंगा नहीं। मैं क्या भिखमंगा हूँ जो किसी से भीख माँगूँगा या डाकू हूं जो किसी को सताऊँगा। बारातियों ने कहा–दरबारी बहुत मूर्ख है, मैं चुप रहा पर मन ही मन कहा ऐसी मूर्खता पर मैं बड़ी से बड़ी पंडिताई न्यौछावर कर सकता हूँ।

परन्तु पलकाचार में किसी को पकड़ा नहीं इससे मेरा कुछ नुकसान नहीं हुआ। मेरे ससुर साहिब ने भीतर जाकर सब स्त्रियों से कह दिया कि जिसको जो कुछ देना हो पहिले देदेना लड़का किसी को पकड़ता नहीं है। इसलिये जो कुछ मिलना था क़रीब क़रीब वह मिल ही गया। अन्यथा रिवाज़ ऐसा है कि जिसे पांच रुपया देना है वह एक रुपया से शुरुआत करता है और धीरे धीरे चार पांच तक पहुंचता है।

इसी प्रकार जब बारात को भोजन का निमन्त्रण मिला और दूल्हा को लेकर सब लोग भोजन को बैठे तब थाली परोसी जाने पर सब लोग तो भोजन करने लगे पर मुझसे कह दिया कि तुम भोजन मत करना, सौ रुपये की अच्छी भैंस लेकर भोजन करना। जबकि ससुराल वाले कह रहे थे कि आप भोजन करो जो कुछ देना है वह हम ज़रूर दे देंगे।

इस समय याद नहीं आ रहा है कि उनने क्या दिया क्या नहीं दिया, पर मैं रुपये के लिये रुका नहीं, मैंने धीरे से किन्तु दृढ़ता के साथ जो कुछ कहा उसका सार यह है कि—मैं मुड़चिड़ा

भिखारी नहीं हूँ कि पैसे के लिये अड़ जाऊंगा, देना हो देना, न देना हो न देना, मैं तो भोजन करता हूं।

दहेज की कुप्रथा से क्या क्या हानियां होतीं हैं इस बात का गम्भीर विचार करने लायक योग्यता तब नहीं थी। उस समय तो यही विचार था कि याचना करके किसी से कुछ क्यों लूं? और कन्या के पिता को इसलिये तंग क्यों करूं कि उसने दूसरे का कुटुम्ब बसाने के लिये एक बाला का पालन-पोषण किया है। इस प्रकार थोड़ीसी समझदारी और बहुतसा घमंड याचना करने से मुझे विमुख रखता था।

दहेज के विषय में आज भी मेरे वे विचार हैं। जिसे मैंने घमंड कहा है उस ढंग का आत्मगौरव प्रत्येक युवक में होना चाहिये और कन्या पैदा करने का दंड किसी को न देना चाहिये।

बंगाल महाराष्ट्र और यू. पी. की अनेक जातियों में हुंडा आदि के नाम से जो ठहरावनी की कुप्रथा है वह तो अत्यंत नृशंसतापूर्ण है ही, साथ ही साधारण याचना की कुप्रथा भी अन्याय है।

यह बीमारी शिक्षितों में भी फैलती जा रही है और शिक्षण का अधिकांश उपयोग शतानियत को सभ्यता का वेष पहिनाने में हो रहा है इस लिये दलील की जाती है कि कन्या का क्या पैतृक सम्पत्ति पर कुछ भी हक़ नहीं है? वही हक़ विवाह के समय लिया जाता है।

अगर यह हक़ ज्यों का त्यों मान लिया जाय तो भी इससे हुंडा या दहेज की पापता कम नहीं होती। पैतृक हक़ तो माता

पिता के मरने के बाद सम्पत्ति के एक भाग के रूप में ही मिल सकता है । दूल्हा राजा को बढ़ियां से बढ़ियां मोटर चाहिये, साइकिल चाहिये, घड़ी चाहिये, विलायत जाने का खर्च चाहिये, समधी महाराज को इतने हज़ार की थैली चाहिये यह सब कन्या का दायभाग नहीं है । कन्या का दायभाग वही हो सकता है जो उसे स्त्रीधन के रूप में मिले, जिस पर पति का और उसके कुटुम्बियों का कोई अधिकार न हो । उसे कन्या का पिता अपनी सम्पत्ति के अनुसार प्रसन्नता से अर्पित करे । विवाह के समय या उससे पहिले तो देनलेन के विषय में कोई बात भी न होना चाहिये ।

पैतृक सम्पत्ति में से हिस्सा पाने के अधिकारी वे ही हो सकते हैं जो मातापिता के बुढ़ापे में उनके पालन पोषण के लिये ज़िम्मेदार हों, लड़की और जमाई यह ज़िम्मेदारी अपने ऊपर नहीं लेते इसलिये उन्हें हिस्सा नहीं मिल सकता ।

यह नियम वहाँ अवश्य खटकता है जहाँ किसी श्रीमन्त कुटुम्ब की लड़की किसी ग़रीब कुटुम्ब में ब्याही जाती है और ग़रीब बन जाती है । उसका भाई पुरुष होने के कारण लखपति बनता है और वह नारी होने के कारण दीन बन जाती है किन्तु एक ग़रीब लड़की भाई की पत्नी बनकर रानी बन जाती है । निःसन्देह इस में एक नारी को सुविधा और एक को असुविधा हुई है इसलिये टोटल बराबर रहा है परन्तु समाज--व्यवस्था में सिर्फ़ टोटल का विचार नहीं किया जाना चाहिये उस में प्रत्येक व्यक्तिकी उन्नति और भलाई का विचार होना चाहिये। अवनत को उन्नत बनाने

की बात ठीक है पर उन्नत को अवनत बनाने की बात ठीक नहीं। इसलिये क़ानून ऐसा बनना चाहिये कि ऐसी घटनाओं पर अंकुश पड़े।

ग़रीब और मध्यम श्रेणी के कुटुम्बों के सामने तो यह समस्या ही नहीं है श्रीमन्त कुटुम्बों के सामने ही इस बात का विचार है। परन्तु क़ानून तो सब को एक सरीखा होना चाहिये। इसलिये यह नियम ठीक होगा कि कन्या के भाइयों की संख्या के अनुसार प्रत्येक भाई पर कुछ सम्पत्ति निश्चित की जाय, उस सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति हो तो कन्या को भाइयों से आधा हिस्सा मिले। मानलो यह नियम बनाया गया कि प्रत्येक भाई और माता-पिता के लिये २०००) रुपये तक की सम्पत्ति अविभाज्य है बाद में जो सम्पत्ति बचे उस में से कन्या को भाई से आधा हिस्सा मिले। मानलो एक कुटुम्ब में बीस हज़ार की सम्पत्ति है, तीन भाई हैं, दो बहिनें हैं और माता-पिता हैं, अब तीन भाई और माता-पिता, इस प्रकार पांच के हिस्से की दस हज़ार की सम्पत्ति तो अविभाज्य रही। बाक़ी जो दस हज़ार बचे उन में से प्रत्येक भाई को ढाई हज़ार और प्रत्येक बहिन को सवा हज़ार के हिसाब से हिस्सा मिला। सम्पत्ति अगर दस हज़ार से अधिक न हो तो कन्याको दायभाग के नाम पर कुछ न मिलेगा। इस प्रकार ग़रीब और मध्यम परिस्थिति के कुटुम्ब सम्पत्ति के हिस्साबाँट से और ग़रीब न होने पायेंगे, और श्रीमन्तों की लड़कियाँ ग़रीब से ब्याही जाने पर भी उतनी ग़रीब न रह पायेंगी। रहने का मकान वग़ैरह हिस्साबाँट की चीज़ न समझी जाय, सम्पत्ति का हिस्सा कब दिया जाय, उसपर कन्या

का ही हक़ रहे, कन्या अगर निःसन्तान मर जाय तो ससुराल वालों को सम्पत्ति न मिले आदि इस विषय में बहुत विचार किया जाना चाहिये। परन्तु इन सब बातों को आत्मकथा में स्थान नहीं मिल सकता। यहाँ तो सिर्फ़ संकेत मात्र किया गया है। ज़रूरत यह है कि दहेज हुंडा आदि कानून से काफ़ी बड़ा अपराध समझा जाय और इसको लेनेवाला पर्याप्त दंडनीय माना जाय।

आज तो हुंडा के कारण स्त्रियों की इज्ज़त मातापिता के यहाँ और पतिके यहाँ काफ़ी घटगई है। मातापिता के लिये तो वे जीवन का बोझ हैं, घर उजाड़नेवाली हैं इसलिये उनका सहज वात्सल्य होने पर भी वे चुभती हैं। पति के यहाँ इसलिये उनकी इज्ज़त कम है कि अगर मर जाँयँ तो दूसरी शादी होने पर फिर हुंडा मिल सकता है इसलिये उनके जीवन की पर्वाह क्यों की जाय? इसलिये हुंडा या दहेज की प्रथा का निर्मूल नाश होना आवश्यक है।

इस प्रकार के पैसे से मुझे स्वाभाविक घृणा थी। यहाँ तक कि ससुराल आने पर जमाई को रुपये आदि देने का जो रिवाज़ है उसको लेने में भी मुझे लज्जा आती थी। लेते समय ऐसा लगता था मानों किसी से कुछ लाँच ले रहा हूं। कंजूसी के कारण या आवश्यकता के कारण या इस कारण कि न लेने से ससुराल के लोग नाराज़ी समझेंगे, भेंट तो ले लेता था परन्तु उस के बदले में कपड़े आदि इतना सामान ले जाता था जिससे वह लेना नफ़े की चीज़ न रहता था। हाँ प्रारम्भ में जब विद्यार्थी था, अपनी कमाई का कुछ पैसा नहीं था तब कुछ नहीं कर पाता था।

वैवाहिक सम्बन्ध को लेकर दो कुटुम्बों का जो मेल होता है उसमें जो आज रीतिरिवाजों के नाम पर विकृति आगई है उसमें एक बात मुझे काफ़ी खटकती रही है। वह है कन्या पक्ष का बिलकुल छोटा समझा जाना। जब मैं पलकाचार में पलंग पर बैठा तब कन्या पक्ष के बड़े बड़े बूढ़े और गुरु जन मेरे और कन्या के पैर छूते थे। वर और कन्या बेटी और बेटे के समान हैं वे सास-ससुर आदि गुरुजनों के पैर छूएँ यह तो समझ की बात है पर गुरुजन ही अपनी सन्तान या सन्तानोपम व्यक्तियों के पैर छूएँ यह बात समझ में नहीं आई। विवाह के बहुत दिनों बाद जब ससुरालवालों से संकोच हट गया था तब मैं अपनी सासू आदि से ये सब बातें कहा करता था, वे मेरी बातों को दाद तो देती थीं पर विदा के समय मेरे और अपनी लड़की के पैर छूना न भूलतीं थीं। इस प्रकार मैं खुशी से व्याख्यान भी झाड़ लेता था और चुपचाप उसकी अवहेलना भी करा लेता था।

एक बार एक भाई ने इसका कारण बताया कि कन्यादान पात्रदान है और पात्र तो पूज्य होता है इसलिये वर उम्र में छोटा होने पर भी पूज्य है। पर इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं था कि कन्या क्यों पूज्य है। कदाचित् पात्र की पत्नी होने से वह पूज्य मानी जाय तो उससे अधिक पैर छूने लायक वन्दनीयता तो कन्या के पिता में ही आ जाती है क्योंकि वह पूज्य कन्या का पिता है। इसलिये उसे कन्या के विनय करने की अपेक्षा अपना विनय अधिक करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि वर को पात्र कहना और कन्या को देय बताना नारीत्व का अपमान है । नारी धन पैसे की तरह या गाय भैंस की तरह देने लेने की चीज़ नहीं है । विवाह वरकन्या का परस्पर सम्बन्ध है, पिता उसका प्रबन्धक है-दाता नहीं । नारीको दान की चीज़ मान लेने पर वह बेचने-खरीदने आदि की चीज़ बन जायगी वह मनुष्य न रहेगी । इसलिये कन्यादान और पात्र आदि की बात व्यर्थ है ।

असल बात यह है कि जब लोग लड़ झगड़कर, मारपीट कर और युद्ध में जीतकर कन्या पक्ष को दबा लेते थे और सुलह को पक्की रखने के लिये विजित शत्रु की कन्या से शादी कर लेते थे तब वह विजित शत्रु विजयी सम्राट् की पूजा विनय आदि करता था । वर की पादपूजा इसी प्रथा का भग्नावशेष है । परन्तु मैं तो ऐसा वीर था नहीं, और होता भी तो शायद इस प्रकार कन्यापक्ष का अपमान कर के वीरता का प्रदर्शन न करता नारी का अपमान करने वाले बर्बरता के ये स्मारक नष्ट होना चाहिये ।

विवाह में कुछ रीतिरिवाज़ कन्याका अपमान करनेवाले भी थे । जैसे वर जिस थाली में भोजन कर जाय उसी जूँठी थाली में वही जूँठा अन्न कन्या को खिलाया जाय । निःसन्देह गृह प्रबन्ध की दृष्टिसे कहीं कहीं घरों में ऐसा होता है शायद उसी का अभ्यास कराने के लिये पुरखों ने वह रिवाज़ बनाया होगा । इस दृष्टिसे शायद किसी समय उस की उपयोगिता होगी पर आज तो यह अपमान-प्रदर्शन न होना चाहिये । हाँ एकत्वप्रदर्शन के लिये दोनों को एक साथ एक ही थाली में भोजन कराया जाय तो ठीक भी है ।

एक यह रिवाज़ अच्छा था कि भाँवर के समय कन्या बिलकुल पर्दे में नहीं रहती। उस का घूँघट तो रहता ही नहीं है परन्तु सिर भी काफ़ी खुला रहता है, हाथ पीठ पेट आदि भी खुला रहता है। ओढ़ने का कपड़ा काफ़ी पतला रहता है जिससे अंग दिख सकें। यह रिवाज़ इसलिये बनाया गया है कि सब लोग अच्छी तरह कन्या को देख सकें। भाँवर ही विवाह की पक्की छाप मानी जाती है इसलिये उस समय कन्या का पूर्ण निरीक्षण हो जाना आवश्यक है। यह रिवाज़ काफ़ी अच्छा है। जहाँ पर्दाप्रथा है वहाँ तो इस प्रथा की काफ़ी उपयोगिता है।

कहीं कहीं तो ऐसी मान्यता है कि भाँवर के समय दोनों तरफ़ के ख़ास ख़ास सम्बन्धी ही उपस्थित रहते हैं, सर्व साधारण को उपस्थित नहीं रहने दिया जाता। उसका कारण यही है कि भाँवर के समय कन्या काफ़ी खुली रहती है और इस वेष में सर्व साधारण उसे क्यों देखे? इसीलिये बहुत से स्थानों पर भाँवर का समय बारह बजे रात के बाद रक्खा जाता है। आवश्यकता ब्राह्मण देवता से ऐसा ही मुहूर्त निकलवाती है। पर अब तो सब से अच्छी बात यही है कि पर्दा-प्रथा ही उठा दी जाय और विवाह अधिक से अधिक लोगों की साक्षी में हो सके। हाँ, इतने लोग न बुलाये जाँय जिससे शांतिभंग हो।

विवाह के पुराने रीति रिवाज़ों में कुछ ऐसे हैं जो उस समय की आवश्यकता को देख कर बनाये गये थे। कुछ ऐसे हैं जो किसी घटना विशेष के अन्ध अनुकरण हैं। इन सब का पता

लगाना आज कठिन है इसलिये यही अच्छा है कि उनमें से जो सार्थक मालूम हों वे रक्खे जाँयँ और बाकी हटा दिये जाँयँ। विवाह-पद्धति ऐसी सुसंस्कृत और भावपूर्ण बनायी जाय जिसका असर जीवनव्यापी हो। सत्यसमाज की विवाह-पद्धति इसी दृष्टि से बनाई गई है।

उस समय मेरी ज्ञाति में विवाह शादियों में दोनों पक्षों में लड़ाई झगड़ा प्रायः हो जाया करता था। लेन-देन के विषय में तनातनी होने लगती थी। पर मेरा रुख ऐसा था कि उसे देखकर बारातियों को शान्त रहना पड़ता था। पिताजी का रुख भी उदार था। कदाचित् उन्हें भय था कि कोई यह न कहले कि कंगाल ही तो ठहरा पैसे के लिये लड़ेगा नहीं तो क्या करेगा? कुछ भी हो विवाह बड़ी शान से हो गया अर्थात् बड़े आनन्द के साथ बालविवाह की वेदी पर मेरा बलिदान कर दिया गया जिसके कटुक फल बहुत ही जल्दी दिखाई देने लगे।

(१२) विवाह के दुष्परिणाम

विवाह के दुष्परिणामों में पहिला परिणाम हुआ आर्थिक दुरवस्था। पिताजी की पूँजी क़रीब हज़ार रुपये की साहुकारी थी उसी के ब्याज से उनकी गुज़र होती थी। परन्तु विवाह में आठ नव सौ रुपया ख़र्च हो गया अब सिर्फ़ सौ डेढ़सौ रुपये की साहुकारी रह गई इसलिये आमदनी इकदम घट गई और विवाह के कारण कुछ न कुछ ख़र्च बढ़ ही गया। शैशव में माताजी के देहान्त के बाद जो ग़रीबी आई थी उसका अनुभव सिर्फ़ पिताजी को करना

पड़ा था और वह भी बुआजी के कारण बहुत कम, और मुझे तो कुछ भी न करना पड़ा था, परन्तु विवाह के बाद जो ग़रीबी आई उसका अनुभव मुझे भी करना पड़ा। मेरे शिक्षण के अन्तिम वर्ष तो काफ़ी कष्ट में बीते। विवाह के बाद लोग अपनी पत्नी को प्रसन्न रखने के लिये अनेक तरह की मिठाइयाँ और मेवे लाते हैं, ग़रीब आदमी भी अपनी पत्नी के हाथ में रुपया दो रुपया कभी कभी दे देता है परन्तु विवाह के बाद पांच वर्ष के भीतर मैं अपनी पत्नी को कुल मिला कर एक रुपया भी नहीं दे सका। उसे इसका रंज रहता था और मुझे उस पर क्रोध आता था कि मेरी ग़रीबी की हालत यह क्यों नहीं समझती? अड़ौस पड़ौस में मेरे साथ जिन जिन लोगों के विवाह हुए थे वे अपनी पत्नी के साथ रात में खाने के लिये मेवा मिठाई आदि लाते थे परन्तु मैं कुछ भी नहीं ला सकता था। मेरी पत्नी जब उन स्त्रियों में बैठती और पति के व्यवहार की चर्चा चलती तब उसे बड़ा दुःख होता। वह रात में मुझसे कहती कि सब के पति अपनी स्त्रियोंसे प्रेम करते हैं, मिठाइयाँ लाते हैं पर तुम कुछ भी नहीं लाते। मैं कहता कि प्रेम मन की चीज़ है, खाने खिलाने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जिनके पास पैसा है वे खिलाते हैं पर मेरे पास पैसा नहीं मैं क्या खिलाऊं? जब मैं अपना कमाऊंगा तब हर दिन मिठाई आदि जो कुछ तुम कहोगी खिलाऊंगा। इस प्रकार भविष्य के सब्ज़बाग़ दिखाकर और मीठी २ बातें बनाकर मैं पत्नी को बहलाया करता था। इतने पर भी अगर उसे सन्तोष न होता तो कठोर शस्त्र से काम लेना पड़ता। मै कहता तुम्हें मुझसे प्रेम नहीं है, मिठाई से प्रेम है।

एक हिन्दू स्त्रीसे यह कहा जाय कि उसे पति से प्रेम नहीं है यह उसके ऊपर बड़ा भारी कलंक है, इससे बचने के लिये उसने इस प्रकार की शिकायत करना काफ़ी कम कर दिया था।

परन्तु मुंह से न कहने पर भी असन्तोष--दुःख उसे रहता था और बातें बनाकर अपनी पत्नी का मुंह बन्द कर देने पर भी मैं भीतर ही भीतर रोता था, खीजता था और मुझे इस परिस्थिति में डालनेवालों पर क्रुद्ध होता था।

सचमुच इस में शान्ता का कोई अपराध नहीं था। उस पर पत्नीत्व का भार भले ही लाद दिया गया था पर आखिर वह बालिका थी। वह हमारी ग़रीबी को क्या समझे ? उसकी तो यह कल्पना हो सकती थी कि विवाहित जीवन माँ बाप के घर के जीवन से अधिक वैभव विलास का जीवन है। यह जब उसने नहीं पाया तो असन्तोष होना स्वाभाविक था। स्पष्टवादिता उसे पैतृक या मातृक संस्कारों से मिली थी इसलिये उसके मुँह से बिना किसी रोष के सहज ही निकल जाता था कि ऐसा अनाज तो हमारे यहाँ [पीहर में] जानवरों को डाल दिया जाता है ऐसी और इतनी लकड़ियां तो यों ही तापने में जला दीं जातीं हैं। जब पिताजी सुनते तो जल-भुनकर खाक़ हो जाते, वे मुहल्ले की स्त्रियों में उसकी निंदा करते, पड़ौसियों से उसे फटकार मिलती, वह अपने मांबाप के घर कहती जाती, इस प्रकार भीतर ही भीतर वातावरण खूब विषैला हो जाता। उस समय पिताजी और शान्ता के बीचमें जो खाई खुद गई वह एक प्रकार से जीवन भर नहीं भर पाई। मुझे उनके जीवन

भर दोनों को अपनी अपनी मर्यादा में रखने के लिये काफी संयम, मनोबल या सहिष्णुता से काम लेना पड़ा है।

इस अनर्थ के मुख्य कारण थे बाल-विवाह तथा सामाजिक कुरीतियां। अगर बालविवाह न होता तो मैं भी कुछ समझदार और कमाऊ होता जिससे इस प्रकार की आर्थिक कठिनाई न आती और पत्नी भी कुछ समझदार होती कि वह गरीबी को अच्छी तरह सह सकती जैसे कि वह पीछे सहने लगी थी। अगर वैवाहिक रीति-रिवाज़ अधिक ख़र्चीले न होते तो विवाह में इतना ख़र्च न होता कि हमारी आर्थिक अवस्था इतनी ख़राब हो जाती। अधिकांश ख़र्च पंचों को भोजन कराने में हुआ। एकाध प्रीतिभोज होता तो ठीक भी था पर प्रत्येक आदमी दिन में दो या तीन बार भोजन को आता था। स्त्रियाँ तो दिन भर वहीं रहतीं जिनके यहां भोजन होता, इसलिये तीनबार उनका भोजन नियत था और बच्चे तो चार पाँच बार तक खाते थे, इसमें साधारण आदमी उधड़ जाता था। प्रीति भोज का मैं विरोधी नहीं हूं परन्तु वह अनिवार्य के समान न होना चाहिये। तरीका ऐसा होना चाहिये जिससे मनुष्य अपनी इज्जत बचाये रख सके और जाति के रिवाज़ का भी पालन कर जाय।

इस विवाह से जो ग़रीबी आई उसने चार पाँच वर्ष तक- जब तक मैं नौकरी नहीं करने लगा—मुझे खूब परेशान किया। एक तो मैं घर में नहीं रहता था, बाहर पढ़ता था, दूसरे घर में ग़रीबी काफी आगई थी इसलिये साल के दस महीने शान्ता को अपने माता पिता के यहाँ ही बिताने पड़ते थे, इससे शान्ता के स्वाभिमान को काफी धक्का लगता था और पिताजी की इज्ज़त भी मेरी

ससुराल में नहीं रह गई थी। कभी कभी उन्हें कुछ कड़ुए व्यंग भी सुनना पड़ते थे।

मेरी पढ़ाई के अंतिम दिनों में तो आर्थिक स्थिति इतनी ख़राब हो गई थी कि पिताजी पाँच सात रुपये महीने पर किसी के घर में झाड़ने बुहारने आदि घरू कामों की भी नौकरी करने को तैयार हो गये थे। पिताजी का पड़ौसियों में जो स्थान था उसे देखते हुए यह एक तरह से आत्महत्या कही जा सकती थी। पिताजी ने जब मुझसे इस विषय में सलाह माँगी तो मुझे रोना आगया पर दूसरा उपाय क्या था? रोते रोते मैंने भी सम्मति दे दी। फिर भी पिताजी रुक गये और यह अच्छा ही हुआ।

कभी कभी ऐसे मौके भी आये जब मैं छुट्टी में घर आता, रात में जब हम पतिपत्नी बिना खिड़की के अँधेरे कमरे में, जिसमें चूहे खूब ऊधम मचाया करते थे, बन्द हो जाते तब उस घोरान्धकार में मिट्टी का दिया जलाने के लिये भी तेल न होता। रुपयों की बात तो दूर है पर पैसों की भी कभी चिन्ता करना पड़ती थी। ग़नीमत इतनी ही थी कि ये सब बातें भोग लीं जातीं थीं-मुँह पर कभी न आतीं थीं इसलिये पड़ौसी भी यह सब न जानते थे। इस प्रकार बाल--विवाह ने और वैवाहिक कुप्रथा ने आर्थिक संकट काफ़ी बढ़ा दिया था।

बालविवाह का दूसरा दुष्परिणाम हुआ पदपद पर अपमान का कष्ट। विवाह के बाद एक दो वर्ष तक कुछ नहीं हुआ, बाद में लोग इस बात पर ज़ोर देने लगे कि पढ़ना छोड़कर कुछ धंधा

करो। पड़ौसी कहते-"भैया, क्या बाप बुढ़ापे तक बैल सरीखा जुता ही रहेगा? क्या तुम्हें जन्मभर पालता पोसता रहेगा? तुम्हें बापने इतना लम्बा आदमी बना दिया, तुम्हारी शादी करदी, अब और क्या चाहते हो?" कोई कोई चतुर पड़ौसी सतर्कता बताते हुए कहते "भैया, क्या शादी के बाद भी इस तरह घर छोड़कर रहा जाता है? इस तरह तो स्त्रियाँ बिगड़ जातीं हैं, घर छोड़कर चलीं जातीं हैं आदि।"

हर एक छुट्टी के अवसर पर डेढ़ दो महीने तक ये सदुपदेश सुनने पड़ते। जान पहिचान के जितने आदमी मिलते वे अपने अपने [कोमल या कठोर] ढंग से मुझे इस विषय पर व्याख्यान सुनाते। मैं पढ़ना छोड़कर व्यापार वगैरह करने लगूं या कहीं १०-१५ रुपया महीने की नौकरी करलूं इसके लिये कहा जाता-देखो अमुक लड़का तुम्हारे बराबर है पर हर एक दिन चार आने कमाकर ले आता है और एक तुम हो जो इतने पट्ठे होकर भी और औरत रख कर भी बाप की कमाई खा रहे हो।

पिताजी की महत्त्वाकांक्षा बहुत नहीं थी। अगर मैं २०) महीना कमाने लगूं तो वे अपने और मेरे जीवन को सफल मान लेते। पर मैं व्यापारी मनोवृत्ति का या उस योग्यता का आदमी नहीं था और पंडिताई के लायक योग्यता पा नहीं सका था। मैं सोचता था कि बीच में पढ़ना छोड़ने से न इधर का रहूंगा न उधर का, किसी तरह न्यायतीर्थ हो जाना चाहता था। पिता जी को विश्वास नहीं था कि मैं पढ़ने के बाद पच्चीस पचास रुपया मासिक कमाने

लगूंगा, उन्हें भय था कि पढ़ लिख कर यह पुजारी बन जायगा और भूखों मरने लगेगा, ऐसे दो चार भक्तों के उदाहरण भी वे मुझे दिया करते थे अमुक आदमी पुराण बांचता है, खूब पूजा करता है पर घर में खाने को नहीं है, इसलिये वे पढ़ना छुड़ाकर मुझे किसी धंधे में लगा देना चाहते थे। इसके लिये घर की ग़रीबी भी उन्हें परेशान करती थी और लोग भी उन्हें सताते थे।

जब मैं छुट्टी में घर आने लगता तब एक तरफ़ जहाँ पत्नी से मिलने की कल्पना से आनन्द होता वहां लोगों के वाग्बाणों की याद से कांपने लगता। घर आने पर जब देखो तब हृदय इस बात से धुक धुक होता रहता कि न जाने कौन पड़ौसी कब क्या बात कह बैठेगा ? परन्तु पढ़ाई को ठिकाने पर पहुँचाने का मैं दृढ़ निश्चय कर चुका था। सब का अपमान सह जाता, एकान्त में रोता पर पढ़ना छोड़ने का विचार न करता।

पिताजी ने जब देखा कि घर आने पर बेशर्मी से यह सब की बातें सह जाता है पर किसी की बात नहीं मानता तब एक बार उनने मुझे चिट्ठी लिखवाई जिसका सार यह था कि अब मैं तुम्हारा कब तक पालन पोषण करूंगा ? इस पत्र को पढ़ते ही मेरी सहन-शक्ति का दिवाला निकल गया। मैं मन ही मन गुनगुनाया कि ये विषैले वाग्बाण अब छुट्टी के दिनों में घर पर ही नहीं मारे जाते अब ये पत्र द्वारा भी मारे जाने लगे हैं। क्षोभ से मेरा खून उबलने लगा और दिल में आया कि पढ़ाई भी छोड़ दूं और सदा के लिये कहीं चला जाऊँ जिससे इन लोगों का न मुँह देखना पड़े न

इन्हें अपना मुँह दिखाना पड़े। पर जन्म से ही मैं कुछ हिसाबी-किताबी आदमी हूं इसलिये उत्तेजना के समय में भी कोई उससे भी भीतर की मनोवृत्ति लाभ-हानि का हिसाब लगाती रहती है इसलिये उत्तेजना से होनेवाले बहुत से दुष्फलों से बच जाता हूं। पर इसमें एक यह बुराई भी है कि अतिसाहस का जीवन में स्थान नहीं रहता। साधारणतः तो अतिसाहस नुकसान ही पहुंचाता है परन्तु कभी कभी अतिसाहस से मनुष्य बड़े बड़े काम भी कर जाता है। ज्यादः हिसाब किताब लगाने से मनुष्य बहुत कम काम कर पाता है। कौन कह सकता है कि इस हिसाबी मनोवृत्ति ने मेरे जीवन की गति को कुंठित नहीं किया है। हां यह भी सम्भव है कि इस हिसाबी मनोवृत्ति के कारण मैं ऐसी परिस्थिति में पड़ने से बच गया होऊं जहां का बोझ मैं न सह पाता, पतित हो जाता या पीछे लौट आता।

खैर, यह सर्वज्ञता प्राणी के भाग्य में नहीं है। उस समय घर छोड़ने आदि की बात छोड़कर मैंने पिताजी को एक कठोर पत्र लिखा जिसका सार यह था कि– " तुमने मेरी बिना अनुमति के बाल्यावस्था में मेरी शादी करदी है इसलिये शादी की जिम्मेदारी मेरे ऊपर नहीं है तुम इतना बोझ नहीं सह सकते थे तो मेरी शादी क्यों की ? मैं अकेला कुछ भी करता। अब मैं न तो पढ़ना छोड़ना चाहता हूं न घर आना चाहता हूं। जब तक मैं पैसा पैदा न करने लगूं तब तक के लिये अपनी पुत्र-वधू (मेरी पत्नी) को शाहपुर भेज दो, समझलो तुम्हारा लड़का मर गया है तुम्हारी पुत्र-वधू विधवा हो गई है। हमारे देश में विधवाएँ पवित्रता से सारा जीवन

बितादेतीं हैं तब वह दोचार वर्ष क्यों न गुज़ारेगी ? और यदि नहीं गुज़ार सकती तो मुझे ऐसा सती नहीं चाहिये । ''।

पत्र लम्बा था, उसमें और भी ऐसी ही बातें थीं, भाषा असभ्य न होने पर भी काफ़ी कठोर थी । यह पत्र पिताजी के ऊपर वज्राघात के समान हुआ । वे इतने रोये कि शायद मेरी मौत से इससे अधिक न रोपाते । इस के बाद मैंने कुछ दिन तक उन के पत्र का भी उत्तर नहीं दिया । जब मैं सागर पाठशाला से बनारस विद्यालय जाने लगा और पं. गणेशप्रसादजीने कहा कि— 'तुम एक दिन पहिलें घर चले जाओ, अपने पिताजी से मिलकर दूसरे दिन स्टेशन पर मिल जाना, तब मैंने घर जाने से इनकार कर दिया । बनारस जाते समय जब गाड़ी दमोह पहुँची उस समय रात के दो बजे थे । मौसम भी ठंड का था । उसी समय पिताजी की आवाज़ प्लेट-फार्म पर सुनाई दी--'दरबारी' । मैं चौंका और जब हम दोनों प्लेटफ़ार्म पर एक झाड़के नीचे मिले तब पिताजी आँसू बहा रहे थे, उनका कंठ रुँध गया था । वे रुँधे कंठसे बोले-- भैया । मैं भी रोने लगा और उनकी छातीसे लिपट गया । उस कठोर पत्र के सम्बन्ध में दोनों के हृदयों में तूफ़ान उठ रहा था पर दोनों उस विषय में निःशब्द थे । रात में नींद लगजाने से मेरी गाड़ी निकल न जाय इसी कारण वे शाम से ही स्टेशन पर आ बैठे थे । और उस ठंडी और अँधेरी रात में वे घंटों से मेरी बाट देखते खड़े थे, मेरे खाने के लिये कुछ मिठाई भी लाये थे, उनकी इतनी सतर्कता, और इतना वात्सल्य देखकर मैं रोपड़ा और उस रात को जीवन में पहिली ही बार मैं उनके पैरों पर गिरा ।

उस समय तो कुछ नहीं, पर जब मैं बनारस से लौटा तब मालूम हुआ कि चिट्ठी की चर्चा शहर भर में है, मेरी ससुराल में और उसके आसपास के गाँवों में भी है । सो जहाँ जहाँ मैं गया वहाँ वहाँ बहुत से लोगों ने उलहना दिया कि ऐसी चिट्ठी क्यों लिखी ? पर ये उलहने पुराने वाग्बाणों के बराबर तीक्ष्ण न थे मुझे इतने में ही सन्तोष था ।

बाल-विवाह से तीसरी जो हानि हुई वह है शरीर-हानि । विवाह के पहिले कामवासना किसे कहते हैं यह मैं जानता ही न था । विवाह के बाद मेरे कुछ मित्रों को आवश्यक मालूम हुआ कि मैं कामवासना का तत्त्व समझूं । एक विवाहित मित्र ने इस विषय में इतने बीभत्स और स्पष्ट व्याख्यान दिये कि चौक होने के पहिले ही सहगमन के स्वप्न आने लगे । शरीर पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा । विवाह न होता तो कई वर्ष तक मैं उस विषय से अनभिज्ञ ही रहता और यह बात शरीर और मन दोनों के लिये फ़ायदे की होती ।

बालविवाह से चौथी हानि हुई पढ़ाई में विघ्न । पिछला एक वर्ष तो बहुत बेचैनी में गया । काम की दसवीं दशा तक तो नहीं पहुँचा फिर भी बहुत सी दशाएँ पार कर गया था । स्वयं अध्ययन करना तो दूर अध्यापक से ठीक तौर से सुनता भी न था । परीक्षा में पास हो गया इसका श्रेय बुद्धि को तो क्या दूं ? वह है ही कितनी-सी, भाग्य को ही देना ठीक है ।

बालविवाह से मुझे ये चार हानियाँ हुईं पर हरएक को ये चार ही होतीं हैं यह बात नहीं है । इससे अधिक भी हो सकतीं हैं । इसे सौभाग्य ही कहना चाहिये कि ये हानियाँ काफ़ी दुःख

देकर भी इतनी तीव्र मात्रा में नहीं हुईं कि मेरे जीवन को पीस डालतीं या भ्रष्ट कर देतीं । किसकी कृपा से मैं सँभला रहसका इसके लिये किसका नाम लूं ? वह ईश्वर हो, नियति हो, या कोई और हो उसे सौ सौ प्रणाम करके संकट-मोचन के आनन्द को व्यक्त करता हूँ । जिसने नारी के सहयोग की आवश्यकता को नहीं समझा, जो उसका भार उठाने की शक्ति नहीं रखता जिसका शरीर परिपक्व नहीं हुआ उसकी शादी करने से विडम्बना ही विडम्बना है।

पत्नी के विषय में जो कुछ मैंने सीखा था वह इतना ही कि पत्नी दासी है उसे पति को प्रसन्न करने का हर तरह प्रयत्न करना चाहिये। मानापमान की उसे चिन्ता ही न करना चाहिये । इस प्रकार पक्षपाती विचारों से रँगे हुए दिल को लेकर जब मैं सुहागरात में पत्नी से मिला तो मुझे बड़ी निराशा हुई, मैं तो यह समझकर गया था कि पत्नी मेरा स्वागत करेगी, प्रणाम करेगी, रिझायेगी पर जब मैंने साड़ीसे ढँका हुआ एक मौन प्राणी देखा और उसने यह सब कुछ न किया तो भीतर ही भीतर मेरा अहंकार गर्जने लगा । उस समय तक नायक-नायिकाओं की वृत्ति समझने लायक साहित्य भी नहीं पढ़ा था । पूरा लट्ठ या ग्रामीण था, विशेषता इतनी थी कि घमंड खूब था । वह लज्जा के मारे नहीं बोली, मैं घमंड के मारे नहीं बोला । इस प्रकार तीन दिन निकल गये । मैं बिस्तर पर सोता था वह चुपचाप एक दरी बिछा कर सोजाती थी । तब वधू होने से वह महमान थी फिर भी मैं इतना न कहसका कि ज़मीन पर क्यों सोती हो ? मैं आखिर पति था, एक दासी का मैं सन्मान कैसे कर सकता था ?

मेरी इस पशुता का कारण बाल्यावस्था का अज्ञान तो था ही, साथ ही विवाह के पहिले बूढ़ी स्त्रियों ने पत्नी को दबाये रखने या वश में रखने की जो नाना ढंग से शिक्षा दे रक्खी थी वह भी था। एक नये घर में बिना किसी सन्मान या प्रेम के तीन तीन रात ज़मीन पर पड़े रहने का कष्ट तो वही जानती होगी। पर कुरूढ़ियों ने मानव-समाज को जो कष्ट दिये हैं उनके सामने ये कष्ट किस गिनती में हैं।

पत्नी की उम्र और भी छोटी थी वह न तो काम-वासना जानती थी, न दाम्पत्य जीवन की दूसरी बातों की आवश्यकता का ही उसे अनुभव था। इधर मैं भी ज़रूरत से ज्यादा मूर्ख था इसलिये पहिली बार आपस में कोई आकर्षण न हुआ। बस मुझे सन्देह होने लगा कि इसमें पतिप्रेम नहीं है, और सीता जी के सतीत्व की याद करके मन ही मन रोने लगा। यह न सोचा कि सीताजी सरीखी पत्नी की आकांक्षा करने वाला मैं रामचन्द्र जी के पैरों की धूल बराबर भी हूँ या नहीं। कुसंस्कारों ने, सहज अहंकारने और बाल्यावस्था की अज्ञानता ने सीधीसादी बात को वितण्डारूप दे दिया था। ग़नीमत इतनी ही थी कि यह सब भीतर ही भीतर था बाहर कुछ नहीं। ज्यों ज्यों मेरी पशुता हटती गई त्यों त्यों भीतर ही भीतर सफ़ाई होने लगी। पर इसमें सन्देह नहीं कि असमय में किये गये मेरे विवाह से मेरे जीवन में अनेक गहरे घाव लगे धीरे धीरे वे पुर तो गये फिर भी ऐसे चिह्न छोड़ गये जिनमें समय समय पर दर्द होता रहा।

अपने बालविवाह की याद आते ही मुझे आज के नवयुवक से ईर्ष्यासी होने लगती है जिस के ज़माने में बाल-विवाह-प्रतिबन्धक क़ानून बन गया है।

उस समय की अपनी मूर्खताओं की जब याद आती है तभी सोचने लगता हूं कि हमारे स्कूलों और कॉलेजों में इतने विषय पढ़ाये जाते हैं जो जीवन में बहुत कम काम आते हैं, बहुत से विषय तो सौ में एकाध के ही काम आते हैं उन विषयों की शिक्षा पर तो बड़ा ज़ोर दिया जाता है पर दाम्पत्य शास्त्र का नाम ही नहीं सुनाई पड़ता। और जब कि आज नये नये शास्त्र बर्सात में घास की तरह पैदा हो रहे हैं तब दाम्पत्य-शास्त्र का प्रारम्भिक साहित्य भी व्यवस्थित नहीं होने पाया है।

जब मैं पुरानी मूर्खताओं और उनके फलों की याद करता हूं तब ज़ोर ज़ोर से चिल्ला कर कहने को तबियत चाहती है कि बाल-विवाह हर हालत में बन्द होना चाहिये और दाम्पत्य शास्त्र की शिक्षा हरएक युवक युवती को मिलना चाहिये।

(१३)–बनारस में अध्ययन

सागर पाठशाला से सिर्फ़ तीन महीने के लिये मैं बनारस आया था। बनारस आने पर मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसा चिड़िया के बच्चे को घोंसले के बाहर निकलने पर होता है। बनारस एक तो शहर ही इतना बड़ा था जितना मैंने तब तक देखा न था फिर संस्कृत विद्या का केन्द्र, गंगा का किनारा, सागर पाठशाला से स्वतन्त्र या कुछ स्वच्छन्द वातावरण, इन सब चीजों ने मुझे लुभा

लिया इसलिये सागर पाठशाला का सम्बन्ध टूट ही गया । सन १९१७ में जैन न्याय मध्यमा की परीक्षा देकर मैं वहीं रह गया । जैन न्याय तीर्थ की परीक्षा दो वर्ष में देना थी इसलिये बीच के वर्ष में परीक्षा देने के लिये प्राचीन न्याय मध्यमा का कोर्स भी ले लिया । पर न्याय-शास्त्र के विषय में मुझे कुछ अरुचिसी थी सब वितण्डावाद सा मालूम होता था । दर्शन के परिचय में रुचि थी पर सीधी बातों को टेढ़ी करके कहना, दूसरे दर्शनों का अच्छा बुरा खण्डन करना यह सब पसन्द नहीं था । इसलिये न्यायशास्त्र का तो अध्ययन सिर्फ इसलिये किया कि न्यायतीर्थ की उपाधि मिल जाय और पंडिताई की छाप मुझ पर लग जाय । प्राचीन न्यायमध्यमा की पुस्तकें एक बार अध्यापक के मुँह से सुनलीं गईं । मुझे आगे जैन न्याय तीर्थकी परीक्षा देना थी उसकी पहिली परीक्षा जैन न्याय मध्यमा मैं पास था इसलिये प्राचीन न्यायमध्यमा में फेल या पास होने की जरा भी चिन्ता नहीं थी । जब परीक्षा देने पटना गया तब साथ में कोर्स की पुस्तकें नहीं ले गया, ले गया शतरंज की थैली । मेरे ही समान इस परीक्षा में पास होने से उदासीन एक विद्यार्थी और था दोनों बैठकर शतरंज खेला करते । हाँ, परीक्षा में दोनों दिन पच्चीस पच्चीस पृष्ठ जरूर लिख आया, जैनन्याय के आधार से पृष्ठ भरने में दिक्कत न पड़ी इस प्रकार व्यर्थ ही पास भी हो गया ।

मेरा सब से प्रिय विषय था जैनधर्मशास्त्र, सर्वार्थसिद्धि तो मैं सागर पाठशाला में पढ़ चुका था बनारस में आकर परीक्षा दी तो सब से प्रथम आया, इनाम भी मिला । गोम्मटसार में भी मैं प्रथम आना चाहता था । पर मुझे धर्म पढ़ाने वाले जो अध्यापक थे

उनने कभी किसी जमाने में गोम्मटसार पढ़ा था इस समय तो उन्हें गोम्मटसार का इतना ही ज्ञान था जितना मुझे। और थे ऐसे आलसी कि पहिले से तैयार भी नहीं होते थे। इसलिये दो घंटे सिरपच्ची करके वे दो चार गाथाएँ पढ़ा पाते थे। मुझे इससे बड़ी चिन्ता हुई। इस के लिये शहर के जैन मन्दिरों में मैं घूमा और एक जगह याचना करने पर भंडार में से स्व. तोड़रमलजी की भाषा वचनिका मिलगई। (उन दिनों ये ग्रंथ छपे नहीं थे) वही हस्तलिखित पोथा लेकर आया और हर दिन तीन घंटे उस का स्वाध्याय करने लगा। अध्यापक से पढ़ने के पहिले मैं दो तीन घंटे सिरपच्ची करके काफी तैयार हो जाता था। विद्यार्थी श्रेणी में बैठकर अध्यापक को मदद करता था। एक दो बार अध्यापक से ही कह दिया कि यह बात ऐसी है आप जैसी कह रहे हैं वैसी नहीं। इस पर जब वे नाराज होते और अध्यापक को अपमानित करने के लिये मुझे अपराधी बनाते तब मैं कहता-अच्छा तो आप आगे देख लीजिये। आगे पढ़ने पर मेरी बात का समर्थन होता, अध्यापक महोदय लज्जित होते सब पर मेरी धाक बैठ जाती। इस तरह धर्मशास्त्र की पढ़ाई का खटारा चल रहा था। गोम्मटसार के कुछ प्रकरण प्रयत्न करने पर भी मैं समझ नहीं पाया था और अध्यापक महोदय तो समझाते ही क्या ? इसलिये इस फिराक में था कि कोई अच्छा विद्वान मिलता तो उससे पूछता।

धर्मशास्त्र के अध्ययन की जो दुर्दशा थी न्याय की भी वैसी थी। न्यायाध्यापक तो बनारस के प्रसिद्ध विद्वान थे पर उनपर बुढ़ापा खूब छागया था। पढ़ाते पढ़ाते वे सो जाते थे और हम

लोग उन का मुँह ताका करते थे। एक तो गुरुओं के विषय में स्वाभाविक ही आदर था और फिर वे थे सबसे पुराने और बड़े विद्वान, इसलिये कुछ कहने की किसी में हिम्मत नहीं थी। अन्त में बिना पढ़े के समान आकर सब विद्यार्थी एक जगह बैठते और पाठ को समझने की कोशिश करते अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ लगाते इस प्रकार मंथन करने पर जो अमृत निकलता उसे पीजाते।

व्याकरणमें मैं बहुत कमजोर था और काव्यका अध्ययन भी नहीं के बराबर था। इस त्रुटि को दूर करने के लिये भी मुझे स्वावलम्बन से काम लेना पड़ा। ऊँची से ऊँची कक्षाओं के काव्य तथा पाठ्यक्रम के बाहर के काव्य अपने ही आप पढ़ने की मैंने कोशिश की। जब समझ में न आता तब इस विषय में होश्यार विद्यार्थियों से या किसी अध्यापक से पूछ लेता। कभी कभी तो इतना अधिक पूछना पड़ता कि बतानेवाला कहने लगता कि जब तुम्हें इतनी भी समझ नहीं है तब अपने आप पढ़ने की कोशिश क्यों करते हो किसी से पढ़ ही क्यों नहीं लेते?

मैं कहता–अपने आप पढ़ने में जितना विकास होता है उतना दूसरे से पढ़ने में नहीं। अपने आप पढ़ने में सरलता कठिनता का भेद इस प्रकार समझ में आता है कि वह चीज बहुत दिन तक याद रहती है दूसरे से पढ़ने में खाया बहुत जाता है पचाया कम।

इस प्रकार काव्य का ज्ञान बढ़ाकर एक दिन संस्कृत में एक लेख लिखा उसमें खूब लम्बे लम्बे समास डाले और उसी विद्यार्थी को बताया जिसने उलहना दिया था। वह चकित हो गया, बोला

यह तो कादम्बरी की टक्कर का गद्य है, अजी तुमने तो अपने आप काव्य पढ़ कर बड़ा विकास कर लिया।

इस प्रकार बनारस में हरएक शिक्षण में स्वावलम्बन से बहुत काम लेना पड़ा और इससे मुझे अपना ज्ञान बढ़ाने में बड़ी मदद मिली पर इससे अध्यापकों की कर्तव्यशून्यता उपेक्षणीय नहीं हो जाती। यह तो सौभाग्य कहना चाहिये कि मुझे इससे स्वावलम्बन की शिक्षा मिली पर बहुत से दीपक तो अध्यापकों की इस कर्तव्य-शून्यता से बुझ जाते हैं। खैर, इस परिस्थिति में भी मैं बनारस में रहकर ही अपना शिक्षण पूरा करना चाहता था पर एक साधारण सी घटना ऐसी हुई जिससे मुझे बनारस छोड़ना पड़ा।

एक दिन मेरे मित्र उदयचन्दजी को रात में प्यास लगी पर दुर्भाग्य से पानी के सब घड़े खाली थे इसलिये उनने मुझे जगाया। मैंने कहा चलो गंगा में पानी पी आवें, पर अंधेरी रात में इतनी सीढ़ियाँ पारकर गंगा किनारे जाना मजेदार होनेपर भी उचित न जचा। मैंने कहा-उधर पंडितजी [धर्माध्यापकजी] का घड़ा रक्खा है उससे पानी पीलो शायद उसमें होगा। उदयचन्दजी पानी पीने गये घड़ाको हाथ लगाकर पानी लिया ही था शायद एकाध घूंट पिया भी होगा कि पंडित जी की नींद खुल गई और एक विद्यार्थी उनका पानी पी रहा है इससे उन्हें बड़ा क्रोध आया। उनने नालायक पाजी उल्लू गधा आदि गालीसहस्रनाम पढ़ना शुरू कर दिया। उदयचन्दजी को तो बुरा लगा ही पर उससे भी ज्यादा बुरा मुझे लगा, इतना ही नहीं शोरगुल सुनकर अन्य सब विद्यार्थी भी जाग पड़े थे उन को भी बुरा लगा। सबेरे सबने निश्चित किया कि

अध्यापक जी से असहयोग सा करना चाहिये ।

दूसरे दिन छुट्टी थी, उस दिन हम लोग उनके साथ मन्दिर में नहीं गये इससे क्रुद्ध होकर उनने हुक्म निकाल दिया कि जो मेरे साथ मन्दिर में नहीं आये उनका खाना बंद। इस बात से विद्यार्थियों में दो दल हो गये। एक दल का कहना था कि उनको रसोई घर के विषय में क्या अधिकार है हम उनके हुक्म को तोड़ेंगे। मेरा कहना था कि आज भूखे रहकर ही सत्याग्रह करना चाहिये बनी बनाई रसोई जब व्यर्थ जायगी तब उन्हें अपनी भूल का ज्ञान होगा और आगे लड़ने के लिये अपना नैतिक बल बढ़ जायगा। कुछ ने खाकर हुक्म तोड़ा मैंने नहीं खाकर आगे लड़ने की भूमिका बनाई ।

स्याद्वादप्रचारिणी सभा का मैं मंत्री था सागर से आने के बाद शीघ्र ही मुझे यह पद मिल गया था, क्योंकि वक्तृत्व में मेरी रुचि सब से अधिक थी। उस दिन मैंने एक घंटे तक इस बात पर भाषण दिया कि संस्थाके कार्यकर्ता कैसे होना चाहिये। पंडितजी पर काफी कटाक्ष थे उनका नाम न लेकर मैंने खूब आड़ीटेढ़ी सुनाई थीं। मजे की बात यह कि पंडितजी को ही सभा का अध्यक्ष बनाया था। बाद में पंडितजी ने अध्यक्ष की हैसियत से जो भाषण दिया उसमें वर्षा की बूंदों की तरह शापवर्षा थी। "समाज में तुम्हें कोई दो कौड़ी में भी नहीं पूछेगा तुम लोग भीख माँगते फिरोगे तुम लोग नालायक गधे आदि हो" यही उनके भाषण का सार था। पंडितजी जितने उत्तेजित हुए मुझे अपने व्याख्यान की सफलता का उतना ही अधिक विश्वास हुआ।

पंडितजी की यह इच्छा थी कि मैं माफी माँगू और इसी-लिये उनने पढ़ाना बन्द कर दिया । विद्यार्थियों ने कहा-अब ? मैंने कहा पंडितजी जैसा गोम्मटसार पढ़ाते हैं उससे अच्छा तो मैं पढ़ा सकता हूं । विद्यार्थी चुप रहे । पंडितजी ने देखा कि ये कमबख्त अभी भी नहीं झुके तो उन ने इसी बात पर कमेटी को त्यागपत्र भेज दिया और विद्यालयके बाहर रहने लगे । उनका विश्वास था कि इस अन्तिम शस्त्र से विद्यार्थी झुक जांयगे पर पासा उलटा ही पड़ा।

जाच होने पर मंत्री को मालूम हुआ कि छोटी सी बात पर विद्यार्थियों का खाना बन्द किया गया, विद्यार्थी पढ़ने आये उन्हें नहीं पढ़ाया गया, इसलिये पंडितजी की तरफ उन्हें सहानुभूति न रही । पंडितजी पदसे सिर्फ धर्माध्यापक थे पर उनका स्थान सर्वेसर्वा के समान था । वे अपनी चतुराई से अनेक बार विद्यालय के मंत्रियों को और अनेक अधिष्ठाताओं को निकलवा चुके थे । पर उस दिन वे एक छोटीसी घटना में उलट गये । उनके एक रिश्तेदार ने सब विद्यार्थियों को अकेले अकेले में ले जाकर कहा कि दरबारीलाल माफी माँगने को तैयार हैं अब तुम लोगों को उनके साथ पंडितजी के पास चलने में क्या आपत्ति है ? विद्यार्थियों ने कहा--जब दरबारीलाल तैयार हैं तब हम भी तैयार हैं इस तरह सब को तैयार कर वह मेरे पास आया और बोला--सब विद्यार्थी पंडितजी के पास जा रहे हैं आप भी चलो तो अच्छा, नहीं तो सब जा ही रहे हैं । मैं मन में काफी चिन्तित हुआ पर ऊपर से कहा-जिनने पंडितजी का अपमान किया हो उन्हें अवश्य जाना चाहिये मैंने नाम भी नहीं लिया तब क्यों जाऊँ ? जाने का अर्थ तो अनपराध

में अपराध का आरोप करना होगा । वह चला गया। विद्यार्थियों से पूछा तो उनने कहा-तुम जाते थे इसलिये हम जाने को तैयार हुए थे नहीं तो हमें क्या गरज थी। इस प्रकार उन रिश्तेदार की यह चाल व्यर्थ गई । इतना ही नहीं हम लोगों को पंडितजी पर घृणा हो गई ।

पंडितजी को त्यागपत्र लौटाने का कोई बहाना न मिला इस प्रकार उन्हें बनारस छोड़ना पड़ा ।

पंडितजी के साथ झगड़ने से बौद्धिक संघर्ष का श्रीगणेश हुआ। स्याद्वाद विद्यालय बहुत दिनों से झगड़ों का घर था। दलबन्दियाँ होती ही रहती थीं मेरे सामने भी दलबन्दी हुई थी। लोग उत्तेजित हो जाते, कुछ कर बैठते, फिर माफ़ी माँगते इस प्रकार चञ्चल क्षोभ बना रहता था। पर मैं झगड़ों से बिलकुल बचा रहता था । विद्यार्थियों में मैं किसी की दृष्टिमें सीधा भोला अर्थात् बुद्धू और किसी की दृष्टि में गम्भीर था। कोई यह कल्पना नहीं कर सकता था कि मैं किसी झगड़े का मुख्यपात्र बन सकता हूं या टिक सकता हूं। पर पंडितजी के साथ झगड़ने में मैंने काफी दृढ़ता का परिचय दिया, एक भी अपशब्द नहीं निकाला गर्जन तर्जन भी नहीं किया और झगड़े का अंत मेरे पक्ष में हुआ इससे मन ही मन एक तरह का घमंड आ गया। संघर्ष में गम्भीरता से टिक रहने का आत्मविश्वास भी हो गया।

जिस बात को लेकर झगड़ा हुआ था वह बिलकुल तुच्छ थी । आज तो यही मालूम होता है कि विद्यार्थी की हैसियत से मैंने ज्यादती की थी । पंडितजी की भूल काफी थी पर मेरा अवि-

नय भी कम न था। अविनय करके भी शिष्टाचार का भंग नहीं किया इससे मैंने काफी चालाकी का परिचय दिया और इससे मेरा पक्ष प्रबल हो गया पर इसकी नौबत न आती जब पंडितजी गोम्मटसार पढ़ाने में होश्यार होते। दुधारू गाय की ही लात सही जाती है।

इस झगड़े में मुझ से कितनी ही गलती क्यों न हुई हो पर आगे चलकर समाज से संघर्ष करने का जो मेरा भाग्य था उस का अभिनय करने की तैयारी अवश्य हुई। इस प्रकार उस अप्रिय और अनुचित घटना से भी मुझे बहुत कुछ लाभ ही हुआ। खराब घटनाएँ भी किसी किसी को अच्छा फल देजातीं हैं। मैं इस विषय में अपने को कुछ सौभाग्यशाली ही समझता हूं क्योंकि बहुतसी अप्रिय घटनाएँ मुझे अपने विकास में सहायक ही मालूम हुई हैं। इस सूक्ष्म और असीम विश्वमें कल्याण और अकल्याण कहाँ कहाँ छिपे पड़े हैं उस को यह तुच्छ प्राणी क्या जान सकता है? वह सर्वज्ञ होकर भी ज्ञ की अपेक्षा अज्ञ अनंतगुण रहता है। छोटी छोटी और अप्रिय से अप्रिय घटनाएँ भी मानव जीवन को कहाँ का कहीं लेजा सकती हैं इसका थोड़ासा ही विचार करने से मनुष्य को चकित होजाना पड़ता है। खैर, उस अप्रिय घटना के बाद बनारस में रहना मुझे अच्छा न लगा। धर्मशास्त्र की पढ़ाई का साधन वहाँ था ही नहीं इसलिये मोरेना जाने की आशा में मैंने बनारस छोड़ दिया।

१४ मोरेना में

सागर बनारस आदि विद्यालयों में विद्यार्थियों को भोजन तथा एकाध रुपया हाथखर्च मिलने का नियम था। पर मोरेनामें आठ

रुपया महीना दिया जाता था और भोजनप्रबन्ध आदि विद्यार्थी अपना अपना करलेते थे। जब मैं मोरेना विद्यालय में दाखिल हुआ तब परीक्षा के लिये सिर्फ सवा माह रहगया था इसलिये विद्यालय के अधिकारियों ने मुझे इस शर्तपर लिया कि अगर गोम्मटसार की परीक्षामें पास हो जाओगे तो स्कालरशिप मिलेगी अन्यथा नहीं। इसी शर्तपर मैं भरती हो गया।

उस समय प्लेग के कारण मोरेना का विद्यालय ललितपुर के क्षेत्रपाल में था। वहीं मैं सवामाह रहा। खास खास शंकास्थल ही मुझे समझना थे सो समझे, परीक्षा दी, और प्रथम श्रेणीमें पाहिला नम्बर आया। इनाम भी मिला।

गर्मी की छुट्टियों के बाद जब मोरेना पहुँचा तो वहाँ इन्फ्लु-एंजा का प्रकोप था इसलिये मोरेना विद्यालय आगरा आया। पर आगरा में भी प्रतिदिन ५००–६०० आदमी मरते थे इसलिये विद्यालय की छुट्टी कर दी गई, मैं घर आगया। इस समय घर की आर्थिक दशा काफी खराब थी। मेरे ऊपर चारों तरफ से बौछारें पड़ती थीं यद्यपि सात आठ माह में मेरी पढ़ाई पूरी होने वाली थी पर ये सात आठ महीने निकालना ही कठिन हो रहा था। कुछ लोगों ने सलाह दी कि दमोह की पाठशाला में ही नौकरी करलो। विवश होकर मैं इस के लिये भी तैयार हो गया, पर पंचायत इस का निर्णय करे इसके पहिले मोरेना से बीमारी हटने के समाचार आये और मैं वहाँ चला गया। अगर इस समय अधूरी पढ़ाई में मैं दमोह में रहगया होता तो मेरे विकास का मार्ग रुपये में बारह आना रुकगया होता। शक्ति किसी न किसी रूपमें तो प्रगट होती

ही, पर उसकी मात्रा नगण्य हो जाती । उस समय दमोह में नौकरी न की यह एक तरह का संकट ही टल गया ।

फिर भी मोरेना में मेरे ज्ञान का कुछ विकास नहीं हुआ। प्रारम्भ में धर्म की कक्षा में कभी कभी ऐसी शंकाएँ छोड़देता था जिससे अध्यापक और विद्यार्थी घंटों माथापच्ची करते रहते थे पर बाद में पढ़ने से बिलकुल उदासीनता आगई थी । किसी तरह न्यायतीर्थ पास हो जाऊँ और नौकरी करने लगूं बस इतना ही तुच्छ उद्देश रह गया था।

घर की आर्थिक चिन्ता, और बालविवाह के कारण असमय में पके हुए यौवन की उत्ताल तरंगें दिनरात मन को क्षुब्ध बनाये रखती थीं । अधिकांश समय तास खेलने और विचारमग्न अवस्था में बाहर घूमने में निकल जाता था। न्यायतीर्थ की पाठ्य पुस्तकें एक बार पढ़ीं थीं और एक बार कुछ निशानों पर नज़र डाल ली थी । वक्तृत्व कला और कवित्व शक्ति का यहाँ भी परिचय दिया था । पर सब से ज्यादा दिलचस्पी थी पत्नी को चिट्ठी लिखने में, उसकी चिट्ठियाँ पढ़ने में तथा वियोग के गीत बनाने में । पत्नी के साथ पत्रव्यवहार करना उस समय काफी निर्लज्जता का काम समझा जाता था। दमोह में मेरी और मेरी पत्नी की इस बात को लेकर काफ़ी हँसी उड़ाई जाती थी, पर जवानी को, फिर चाहे वह असमय में पकी हो चाहे समय पर पकी हो, इन बातों की पर्वाह नहीं होती। कुछ सुधारक मनोवृत्ति भी थी उसने भी ऐसी बातों से लापर्वाह बना दिया था

मोरेना के दिन पूरे करके परीक्षा देने कलकत्ता गया। दिन में परीक्षा देता था, रात में नाटक देखता था।

परीक्षा देकर रास्ते में सम्मेदशिखर की यात्रा की। एक ही दिन में इतनी लम्बी यात्रा करने में मनुष्य को क्या शान्ति मिलती होगी यह मैं नहीं समझा। क़रीब बीस मील का चढ़ना उतरना है। किसी तरह चक्कर ही कट पाता है, निराकुलता से बैठकर परमार्थ चिन्तन का कोई अवसर नहीं मिलता, ऐसी लम्बी यात्रा के लिये तो बीच में यात्रियों को ठहरने और खाने पीने के लिये अनेक स्थान बनना चाहिये। जिससे यात्री ठहरते हुए दो तीन दिन में यात्रा पूरी कर सकें, प्रकृति की शोभा देख सकें, वन--विहार का आनन्द ले सकें।

यात्रा में १४ मील, पार्श्वनाथ शिखर तक, मैं किसी तरह पहुँच गया पर लौटते समय पैरों ने जवाब दे दिया। अन्त में झाड़ के नीचे लेट गया। दो भील एक कपड़े में मेरी पोटली बाधकर धर्मशाला में डाल गये। इस मज़दूरी के उनने डेढ़ रुपया लिया।

धर्म के लिये कष्ट सहना पड़ता है इस अनुभव से हमने धर्म और कष्ट को एक ही चीज़ समझ लिया है। और धर्म का माप विवेक से या उसके फल से नहीं करते किन्तु कष्ट से करते हैं। धर्म के नाम पर किसी भी तरह का कष्ट सह लेना हमने धर्म समझ लिया है इसका फल यह हो रहा है कि धर्म के नामपर यहाँ नरक तो बन गये हैं पर धर्म का फल स्वर्ग दिखाई नहीं देता अथवा बहुत कम दिखाई देता है।

ख़ैर, दो भीलों के बीच में लटकती हुई पोटली बनकर ही क्यों न हो किसी तरह तीर्थ यात्रा की कीर्ति लूटकर (पुण्य लूटकर नहीं) पहाड़तीर्थ और न्यायतीर्थ की वन्दना करके बनारस आपहुँचा ।

(१५) बनारस में अध्यापक

फरवरी १९१९ में कलकत्ता से परीक्षा देकर लौटा तो बनारस ठहर गया और यहीं स्याद्वाद विद्यालय में धर्माध्यापक नियुक्त कर लिया गया । कुछ समय पहिले इस विषयमें पत्र-व्यवहार हो गया था । वेतन ३५) महीना मिला । ग़रीबी के अंधकार में से निकलने के लिये ३५) रुपयों का प्रकाश पैंतीस मुहरों सा मालूम हुआ ।

एक वर्ष पहिले मैं यहाँ विद्यार्थी था, अधिकांश विद्यार्थी वे ही थे जो गतवर्ष मुझसे नीची कक्षाओं में पढ़ते थे । एक ही विद्यालय में विद्यार्थी की हैसियत से जो साथ-साथ रहे हों वे ऊँची कक्षा के हों या नीची कक्षा के, उनका दावा बराबरी का रहता है । फिर उनमें बहुत से विद्यार्थी ऐसे थे जो गतवर्ष तक गोम्मटसार में मेरे साथ पढ़ते थे अब एक वर्ष बाद मैं ही उन्हें गोम्मटसार पढ़ाने के लिये नियुक्त हुआ । गतवर्ष मैं धर्माध्यापकजीसे भिड़ ही चुका था इसी कारण वे चले भी गये थे । उन के पक्ष के विद्यार्थी भी मौजूद थे जिन्हें नई परिस्थिति के अनुसार मेरा विद्यार्थी बनना था । यह सब विकट परिस्थिति थी जिसका मुझे सामना करना था ।

इसलिये सब से पहिला काम मैंने यह किया कि अध्यापकों के समान गम्भीरता से रहने लगा । सब विद्यार्थियों से प्रेम से व्यवहार करता था, उन पर अपना गुरुत्व दिखाने की कोशिश न करता था,

पढ़ाने में सारी शक्ति लगाकर उन्हें समझाता था, पर कभी भी गाम्भीर्य नष्ट न होने देता था और न बालोचित क्रीड़ाएँ करता था, दिनभर पुस्तकावलोकन ही करता था। इन सब बातों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। फिर भी गतवर्ष मेरे साथ पढ़नेवाले वे विद्यार्थी तो विद्यालय छोड़ कर चले ही गये जो पिछले धर्माध्यापकजी के पक्ष में थे। फिर भी दो महीने में सारा वातावरण साफ़ हो गया और गर्मी की छुट्टियों के बाद मैं अपनी पत्नी को लेकर बनारस पहुँच गया। और जुदे मकान में रहने लगा।

वह महँगाई का ज़माना था। पांच सेर का गेहूं और क़रीब तीन रुपया सेर घी मिलता था फिर भी पैंतीस रुपया में मैं सन्तुष्ट था। आर्थिक दृष्टि से आत्मगौरव और स्वतन्त्रता का पूरा अनुभव होता था। विवाह के बाद से इन पांच वर्षों में मैं पत्नी को एक रुपया भी न दे सका था इसका दर्द मेरे दिल में और पत्नी के दिल में भी उठा करता था पर दोनों ही भविष्य के किसी सौभाग्यशाली दिन की आशा में उस दर्द को सह रहे थे। मैं उस दिन की बाट चातक की तरह देख रहा था जब पूरा वेतन पत्नी के हाथ पर रक्खूंगा और जिस दिन मैंने वेतन लाकर पत्नी के हाथ पर रक्खा उस दिन हम दोनों एक दूसरे से सटकर खड़े होकर जिस अनिर्व-चनीय आनन्द का अनुभव करते रहे वह पीछे हज़ारों रुपया पा कर भी नहीं हुआ।

उस समय न तो मेरी पत्नी के पास अच्छी धोती थी न सामान रखने के लिये पेटी थी पहिले महीने में यही खरीदे गये,

धोती खरीदने के लिये जब हम दोनों बनारस की गलियों में चक्कर काटने लगे तब ऐसा मालूम हुआ मानों स्वर्ग के नन्दन वन में विहार करने लगे हों।

बनारस में रह कर मैंने कविता बनाने का खूब अभ्यास किया। हरएक जैन पत्र में कविता लिखने लगा, सम्पादकों की मांगें भी आने लगीं। यहां समय काफ़ी मिलता था सिर्फ़ चार घंटा पढ़ाना पड़ता था इसलिये ६-७ घंटे मैं कविता लिखने, साहित्यावलोकन करने तथा पुराने गुरुओं से कुछ अध्ययन करने में लगाता था। आर्थिक चिन्ता से मुक्त होने के कारण काम में मन भी खूब लगता था।

इस समय एक बार भक्ति का ज्वार भी आया। कुछ महीने तक यही क्रम रहा कि शाम को दो तीन घंटे भेलूपुर के जैन-मंदिर में जा कर मूर्त्ति के आगे एकान्त में बैठा रहता। वहाँ बैठने में एक ऐसी निराकुलता तथा आनन्द का अनुभव होता था कि भेलूपुर जाने के कई घंटे पहिले से ही मेरा मन आनन्द-नृत्य करने लगता था। जैसे किसी मेलेठेले में जाने के पहिले बच्चे घर में ही उछलने कूदने लगते हैं उसी तरह मेरा मन प्रतिदिन दुपहर के दो तीन बजेसे ही भेलूपुर जाने के लिये उछलने कूदने लगता था। और वहाँ जितनी देर बैठता था वहाँ वैकुण्ठ या मोक्ष जैसी निराकुलता मालूम होती थी।

इस प्रकार एकान्तसेवन, तथा भक्ति में तल्लीन होने की आकांक्षाने मेरे जीवन में अमिट स्थान बना लिया है, पिछले बीस वर्ष के सामाजिक द्वंदमय जीवन पर जब मैं नज़र डालता हूं तब

मुझे अपने पर बड़ा आश्चर्य होता है । मन से वचनसे या तनसे किसी के ऊपर आक्रमण करने की यहाँ तक कि स्वयं प्रेरित हो कर किसी को समझाने की भी मुझ में रुचि नहीं है फिर न जाने वह कौनसी शक्ति है जो मेरी इस रुचि को कुचलती रहती है और मानों हण्टर पर हण्टर लगाती हुई 'मत बैठ चलता रह' 'मत बैठ चलता रह' की गर्जन करती रहती है ।

पिछले बीस वर्षों से एक के बाद एक नये आन्दोलन उठाने, और पागल की तरह उनके पीछे पड़ने यहाँ तक की उनके लिये मित्र दोस्तों की, धन पैसे की या स्वास्थ्य की भी पर्वाह न करने का पागलपन जो मैं कर रहा हूं, एक दिन भी अपने को निश्चिन्त नहीं बनासका हूं लेखनी से कागज़ को रंगकर या मुँह से लोगों को पीटकर जो जनसमाज में क्षोभ पैदा करता रहा हूं उस परिस्थिति का जब अपनी रुचि से मिलान करता हूं तब ऐसा मालूम होता है कि कोई दिव्य या राक्षसी शक्ति किसी पहाड़ को मार मार कर दौड़ा रही है । जिससमय ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं उस समय मैं अपने इस क्षुद्र जीवन को देखकर ही आश्चर्य के समुद्र में गोते लगा रहा हूं। रुचि कहती है "चुप बैठ, किसके लिये तू क्या कर रहा है मनुष्य हो कर मशीन की तरह काम करके तू क्या पायगा ? तूने भगवान का दर्शन किया है, अब दुनिया पर नज़र डालकर अपनी आँखें अपवित्र क्यों कर रहा है ? जंगल में चला जा, जो तेरे साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहें उन को भी साथ लेले और पवित्र आनन्द का स्वाद चखाता रह, आदर सत्कार यश आदि सब झूठ है, बड़े बड़े महात्मा भी जीवनभर निरादर ही पाते रहे हैं,

जिनके लिये उनने जीवनभर तपस्या की उन्हीं के द्वारा ठुकराये गये हैं और बड़े से बड़े शैतान भी असीम आदर पूजा यश पद आदि पाते रहे हैं, तब इन चीज़ों में क्या महत्ता रही ? भक्तिमें और एकान्तमें जो आनन्द है वह आदर पूजा यश में कहाँ है। भक्ति का आनन्द निर्दोष है अहिंसक है पर आदर पूजा यश का आनन्द ईर्ष्याजनक है हिंसक है इसलिये वह राजस या तामस है । फिर देख तो सही धनमें पदमें आदरमें और यश में आनन्द क्या है ? अधिक धन पाकर क्या तू अधिक खाने लगेगा और अधिक खाकर क्या तू अधिक सुखी हो सकेगा ? यदि नहीं, तो धन किस काम का ? पद से भी तुझे क्या मिलेगा ? पद से अधिकार मिलता है आदर मिलता है, अधिकार से दूसरों का निग्रह कर सकते हैं पर इससे तुझे क्या मिलेगा ?

दूसरों को मिटाने से उनका मिटा हुआ भाग तुझ में तो जुड़ेगा नहीं और जुड़ा भी तो उससे तेरा बोझ ही बढ़ेगा, आनन्द क्या मिलेगा ? रहा आदर सो आदर से उच्च स्थान मिलता है अगर उच्चस्थान की ही तुझे भूख हो तो जंगल में जाकर किसी टेकरी पर क्यों नहीं चढ़ जाता ? मंच की कुर्सी से वह टेकरी काफ़ी ऊँची है। यश से भी क्या लाभ है ? तारीफ़ के शब्द कोयल के स्वर से अधिक मीठे नहीं होते, तारीफ़ के शब्दों से सिर्फ तुझे ही आनन्द आता है दूसरों को तो ईर्ष्या ही होती है इस प्रकार संसार में दुःख ही है पर कोयल के स्वर से सभी को आनन्द मिलता है इसलिये जंगल में रह कर चिड़ियों का चहचहाना सुन, नाम बड़ाई में क्या रक्खा है ? मानलो तेरा नाम अमर हो गया पर मरने के बाद

तेरा नाम और तेरा यश सब तेरे लिये पराया हो जाने वाला है। अगर मरने के बाद तू ऐसी ही जगह पैदा हो जहाँ तेरा यश फैला हुआ है और तेरी कब्र की पूजा होती है तो क्या तुझे भी उन पुजारियों में ही शामिल न होना पड़ेगा ? इस प्रकार मरने के बाद तेरा नाम और यश तेरे लिये भी पराया हो जायगा तब नाम की अमरता के लिये क्यों मरा जाता है ? तू समझता है दुनिया को तेरी सेवा की ज़रूरत है ? पर ज़रा मर कर देख, क्या दुनिया का कोई काम तेरे बिना अड़ता है ? यदि नहीं तो सेवा के नाम पर 'मान न मान मैं तेरा महमान' क्यों बनता फिरता है ? अगर तू सेवा ही करना चाहता है तो असफलता से दुःखी क्यों होता है ? क्या धर्म से मनुष्य दुःखी होता है, अहंकार और मोह ही मन में दुःख पैदा करते हैं--धर्म नहीं, इसलिये निर्मोह बन, निरहंकार बन, दुनिया की छातीपर अपनी सेवा मत लाद, निर्द्वंद बन, निश्चित बन, एकान्तसेवी बन, और भक्त बन, किसी तरह दूसरों का बोझ मत बन। दूसरों के मार्ग में आड़े न आना यह दूसरों की बड़ी से बड़ी सेवा है। कोई लेने आवे और तेरे पास कुछ हो तो भले ही देदे पर देने का व्यसन मत लगा।"

जब से मैं समझदार हुआ हूं या समझदार कहलाने लायक हुआ हूँ तभी से मेरी रुचि ऐसी ही रही है पर दो शक्तियाँ रुचि को सफलता पूर्वक दबाती रहीं हैं और हण्टर मार मार कर मुझे चलातीं रहीं हैं।

एक शक्ति कहती है—तू जैसा सोचता है अगर सभी लोग ऐसा ही सोच लेते, पुराने महात्मा भी यही सोच लेते तो आज यह

मानव-समाज पशुओं से आगे न होता । पूर्वजों से लेकर ही मनुष्य आगे बढ़ सका है, तूने अगर किसी से छटाक भर लिया है तो सेर भर देना तेरा फ़र्ज़ है । मनुष्य कर्महीन नहीं हो सकता और जब कर्म अनिवार्य है तब कर्म को ऐसा क्यों न बनाना चाहिये जिससे विश्वहित हो सके । जीवन-निर्वाह के लिये जगत से कुछ लेना ही पड़ेगा तो उसके बदले में कुछ देने में हिचकना क्यों चाहिये ? क्या अकर्मण्य होने से ही वीतरागता आ जाती है ? आदर और यश कोई बुरी चीज़ नहीं है बुरी चीज़ तो है इनकी तृष्णा, जिससे इनके लूटने की इच्छा हो जाय इनके लिये संयम और सभ्यता का भंग हो जाय, इनके पीछे मनुष्य सत्य की भी पर्वाह न करे, या जनहित के बदले ये जीवन के मुख्य ध्येय बन जाँय । अयाचित आदर यश मिले तो पाप न हो जायगा, तू कर्म करता चल । दुनियाका हित तो 'मान न मान मैं तेरा महमान' बनकर ही करना पड़ता है क्यों कि दुनिया के एक मुंह नहीं है । जितने आदमी हैं उतने ही मुँह हैं । वे सब तुझे निमन्त्रण कैसे दे सकते हैं ? वे समझें भी कैसे कि तू निमन्त्रण देने लायक है । फिर साधारण दुनिया तो उस अबोध बालक सरीखी है जो पढ़ने के डर से रोता है । विद्याका महत्त्व वह आज नहीं जानता, दुनिया भी ऐसी है, नई बातों का महत्त्व वह आज नहीं जानती, मूढ़ता के कारण उस में हठवादिता होती है इसलिये वह तिरस्करणीय नहीं दयनीय है । इसलिये यश के लिये नहीं, किन्तु जीवन कर्मशील है इसलिये समाजहितकारी कर्म करने के लिये, समाज का ऋण कई गुणा चुकाने के लिये निर्लिप्त रह कर कर्म कर ।

एक दूसरी शक्ति कहती है "अगर तुझे कुछ करने की शक्ति मिली है तो उससे तुझे शक्तिमान कहलाना ही चाहिये । यश ही अमर जीवन है आदर ही सच्चा व्यक्तित्व है । खराब और साधारण व्यक्ति भी कर्मठता के कारण महान बने हैं तू अगर महान बनता है तो इसमें बुराई क्या है ? जगत मूर्ख है जगत् को समझदारों का बोझ उठाना ही पड़ेगा, उनकी तू पर्वाह कहाँ तक करेगा ? जगत् को तू बेचारा क्यों समझता है ? वह डाकुओं का गिरोह है, सभी लुटारू हैं तू उन्हें न लूट पायगा तो वे तुझे लूटेंगे । लूटना या लुटना दो में से एक अनिवार्य है । लूटना अगर शैतानियत है तो लुटना हैवानियत है । योग्यता रहते तू हैवान क्यों बनता है, शैतान बन । हैवानियत गुनाह बेलज्जत है, शैतानियत गुनाह है पर उस में लज्जत तो है । सब अपनी पर्वाह करते हैं तू भी अपनी पर्वाह कर, त्याग एक तरह की मूर्खता है । हाँ, वह लाभ के लिये हो तो बात दूसरी है । जड़ता ही बड़ा पाप है तू जड़ मत बन, कर्म कर ।

इस प्रकार एक खुदाई ताक़त दूसरी शैतानी ताक़त रुचि के अनुसार चैन से नहीं बैठने देती । खुदाई ताक़त प्रेम है, शैतानी ताक़त मोह है । कब कौन रुचिपर हण्टर मारती है, यह कहना कठिन है ।

इन बीस वर्षों से यश की बात तो दूर, मैं अपने निकट से निकट मित्रों को या दूर रहनेवाले परिचितों को भी खुश नहीं कर पाया, जो ठीक जँचा उसी पर चलने लगा, इससे नाराज़ी और असहयोग और अर्थहानि ही मिली जिससे मालूम होता है कि प्रेम

ही चैन नहीं लेने देता पर कभी कभी मन काफ़ी क्षुब्ध हो जाता है, प्रबल व्यक्तित्व की वृद्धि की दिशा में भी काम करता है, असफलता में वेदना भी होती है, इससे मालूम होता है यहाँ मोह है, शैतान है, खैर मोह का चिह्न हो या न हो पर मोह की कालिमा अवश्य है। इस प्रकार प्रेम और मोह हण्टर मारते हुए जीवन को दौड़ाते जाते हैं। फिर भी उमंग से दौड़ने वाले घोड़े और हण्टर खाखाकर दौड़ने वाले घोड़े में जो अन्तर है वह यहाँ भी है। हण्टर मारने वाला प्रेम या मोह जब थक जायगा तभी घोड़ा बैठ जायगा और मुझे वे दिन दूर नहीं मालूम होते जब यह घोड़ा बैठेगा अथवा जब तक हण्टर मारने वाले रुकावट करेंगे तब तक बैठा रहेगा।

खैर, यहाँ छोटीसी बात को लेकर मैं दार्शनिकों सरीखा बहुतसा बकवाद कर गया। कह तो यह रहा था कि बनारस में एकान्त में बैठकर भक्तिमग्न होने की बड़ी लालसा थी, प्रतिदिन घंटों इसी मग्नता में बिताता था। आज भी उस सौभाग्य की लालसा है, आशा है वह कभी पूरी होगी या कुछ दिनों महीनों या वर्षों के लिये ही उसे पासकूं।

नौकरी लगजाने के बाद हम दोनों बहुत सुखी हुए, पिताजी भी प्रसन्न थे। वे दो दो तीन तीन महीने में बनारस आते थे। एक तो मँहगाई, फिर आने जाने का यह खर्च, इससे आर्थिक तंगी मालूम होने लगी, मैं सौ रुपया इकट्ठा करना चाहता था पर एक वर्ष में भी न कर सका इसलिये बनारस की नौकरी छोड़ दी। परन्तु बनारस छोड़ने का इससे भी जबर्दस्त दूसरा कारण था विद्यालय के अधिष्ठाताजी, उनने बताया कि अन्य ब्राह्मण अध्यापकों

की तरह आप काम न करें, कुछ अधिक करें। अगर यह अनुरोध प्रेम का होता तब तो कोई बात न थी परन्तु इस अनुरोध के पीछे कुछ अधिकार का ज़ोर था, नया जीवन और छोटी उम्र होने से अनुभव हीन तो था ही, मैंने मान लिया कि इससे मेरा अपमान हुआ है इसलिये दूसरा स्थान ढूँढ़कर मैंने बनारस का विद्यालय छोड़ दिया। जब चलने लगा और विद्यार्थियों ने हिन्दी और संस्कृत में मानपत्र दिये और रोये तब मुझे मालूम हुआ कि यहाँ मैं समवयस्क विद्यार्थियों की भक्ति पाकर सौभाग्यशाली था। यह स्थान छोड़कर अच्छा नहीं किया पर यह स्मशान वैराग्य बहुत देर तक न रहा और बनारस छोड़ दिया।

(१६) सिवनी में कुछ माह

सिवनी को अगर मैं अपनी सुधारकता की जन्मभूमि कहूँ तो इसमें कुछ अतिशयोक्ति न होगी, सिवनी में कुछ महीने ही रहा, विद्यावृद्धि के लिये यहां कोई अनुकूल अवसर न था फिर भी किताब छोड़कर सीधे जगत को पढ़ने का बीजारोपण यहीं हुआ।

जब मैं सिवनी पहुंचा तब मेरी उम्र बीस वर्ष कुछ माह थी, मूँछें नहीं थीं, यद्यपि स्याद्वाद विद्यालय सरीखे विद्यालय में एक वर्ष अध्यापकी कर चुका था फिर भी देखने में लड़का सा ही लगता था इसलिये जबतक विशेष सम्पर्क में नहीं आया लोग मुझे देखकर बड़े निराश हुए कि यह लड़का क्या पढ़ायगा। एक सज्जन, जो समाज में बहुत प्रतिष्ठित और चलते-पुर्जे थे जिन्हें मैं भ्रमवश सिवनी पाठशाला का कर्ताधर्ता या अधिकारी समझता था,

मेरे साथ ऐसा व्यवहार करने लगे जैसे किसी मामूली क्लर्क से किया जाता है। पंडितजी, ज़रा पानी तो पिलाओ अमुक जगह से मेरा अमुक कागज़ तो ले आओ आदि फ़र्मान छोड़ने लगे। मन ही मन खिन्न होकर भी अवसर की ताक में उनकी आज्ञा बजाता रहा। मैं यह सोचने लगा कि अगर अभी फटकार दूंगा तो वैर हो जायगा और एकबार वैर हो जाने पर मनुष्य वैरी के गुणों को भी दोष बनाता है इसलिये जबतक योग्यता दिखाने का अवसर नहीं आया तबतक चुप ही रहना चाहिये। योग्यता दिखाने के बाद अगर धन के आगे विद्वत्ता का अपमान होगा तब देखा जायगा। अन्त में ऐसा ही हुआ। एक दो व्याख्यान होने और दो चार दिन शास्त्र पढ़ने के बाद मेरे विषय में लोगों के विचार बदल गये। इधर मैंने नियमसा कर लिया कि किसी धनवान के घर कोई ख़ास आवश्यकता के बिना न जाऊंगा। एक तो योंही बिना काम के मिलने जुलने की आदत कम थी और फिर धनवानों से मैं ख़ासकर न मिलता था। धर्मशास्त्र की दृष्टि से मेरे कुछ ऐसे विचार थे कि हिंसा झूठ चोरी कुशील की तरह परिग्रह को भी जैन-शास्त्रों में पाप बताया है। अब अगर परिग्रह होने के कारण किसी को पापी नहीं कह सकते तो कम से कम उसका हमें आदर तो न करना चाहिये। धनसे किसी का आदर करना तो जैनत्व में दोष लगाना है।

उस समय मैं परिग्रह की जो परिभाषा समझता था वह आज नहीं मानता फिर भी धनवानों के विषय में उस समय के विचारों की छाप आज भी दिल पर है। व्यवहारज्ञता के कारण

आज धनवानों का अनादर नहीं करता, एक गृहस्थ के समान उनका आदर करता हूं और सामाजिक कार्यों में उनसे सहयोग की आशा हो तो उनका विशेष आदर भी करता हूं फिर भी अगर किसी धनवान का मुझसे अनादर होजाय या आदर में कमी रह जाय तो दिल को ऐसी चोट नहीं पहुँचती जैसी कि वर्तमान व्यवहार के अनुसार पहुँचना चाहिये।

सम्पत्ति का अधिक आदर न करने का भाव जैनशास्त्रों ने तो दिया ही था पर उस छोटे से जीवन में जो थोड़ा बहुत अनुभव हुआ था उससे धन की महत्ता का पता लगजाने पर भी धनवान की महत्ता का पता न लगा था बल्कि कुछ घृणा ही पैदा हुई थी। क्योंकि धनवान होने के मुख्य रास्ते दो ही मैंने देखे थे--क़ानून की मार से बचकर लुटारू बनना या ऐसे ही किसी लुटारू के बेटे या अनुचर बनना। इन दोनों में जीवन की वास्तविक महत्ता या पवित्रता नहीं है।

बड़े बड़े धनवान कैसे बनते हैं? इसका एक छोटासा अनुभव सिवनी में ही मुझे हुआ। सिवनी में मराठी साड़ियाँ पहिनने का रिवाज़ था, मेरी पत्नी की इच्छा भी तीव्र थी इसलिये पहिले महीने में वेतन के जब पचास रुपये मिले तब मैं साड़ी खरीदने के लिये एक जैन श्रीमान के यहाँ पहुँचा। उनने एक साड़ी बतलाई और कहा कि हमारी ख़रीद चौदह रुपये की है, रिवाज़ के अनुसार फ़ी रुपया आठ आना नफ़ा, इस प्रकार इक्कीस रुपये हुए, पर आप तो अपने ही हैं आपसे अधिक नफ़ा क्या लिया जाय? आपसे सिर्फ़ बीस रुपये ही लूंगा।

निःसन्देह उनकी स्पष्टवादिता आदरणीय थी पर इस नफ़ेबाजी से मैं ऐसा क्षुब्ध हुआ कि उनकी स्पष्टवादिता की मैं क़द्र न कर सका। यह तो पीछे मालूम हुआ कि साड़ी खरीदने में इस स्पष्टवादिता की क़द्र करता तभी लाभ में रहता।

अब मैं एक और घनिष्ठ मित्र के यहाँ पहुँचा उनने एक और बढ़िया साड़ी बतलाई, मेरी पत्नी को वह अधिक पसन्द आई, कीमत के विषय में जब बातचीत हुई तब उनने कहा--हमारी खरीदी २८=) की है, आपसे क्या नफ़ा लें, आप खरीद के दाम ही दे दीजिये। मैंने २९) निकाल कर दिये। उनने कहा चौदह आना अभी हैं नहीं, आप २८) ही दे दीजिये, हमारी इतनी बड़ी दूकान है, अगर आप सरीखे विद्वानों से दो आने का घाटा ही उठा लिया तब भी कुछ हानि न होगी। यह कहकर उनने एक रुपया वापिस कर दिया। मैंने मन में कहा इसे कहते हैं सज्जनता, इसे कहते हैं गुणानुराग। परन्तु पीछे मालूम हुआ कि कपड़े की दूकानों में प्रत्येक कपड़े पर एक नियत अंक अधिक लिखकर रक्खा जाता है। उनकी दूकान में १०) अधिक लिखने का रिवाज़ था, वास्तव में उस साड़ी की खरीद १८=) थी, इस प्रकार फी सैकड़ा ५६) के हिसाब से नफ़ा लेने पर भी दो आने छोड़ने का जो यश उनने लूट लिया था और मेरे ऊपर जो अहसान का बोझ लाद दिया था उससे मैं कराहने लगा। मैंने किसी से कहा तो कुछ नहीं, यह कोई कानूनी जुर्म तो था ही नहीं, पर मनने कहा ये लोग वे ही हैं जो बिलकुल नग्न दिगम्बर महात्माओं के दर्शन किये बिना भोजन नहीं करते। जैन तीर्थंकर, जो निष्परिग्रहता की चरम सीमा कहे जा

सकते हैं, उनके ये परमोपासक हैं, जो अपने व्यवहार से इस बात की घोषणा करते रहते हैं कि जगत में अगर किसी धर्म को स्थान नहीं है तो वह जैन-धर्म है।

लोग कहेंगे "उँह ऐसा तो चलता ही है यह तो व्यवहार है, हर दूकान में और हर घर में ऐसा होता है, ऐसी रोजमर्रा की साधारण घटनाओं पर तत्वज्ञता के गोले छोड़ना एक तरह का पागलपन है" इसमें सन्देह नहीं कि वह मेरा पागलपन था क्योंकि व्यवहार के बहुत आगे चले जाना भी बहुत पीछे रह जाने के समान पागलपन है। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि जो दुनिया इस पागलपन को कर रही है उसने तो नरक की कल्पना को प्रत्यक्ष ही बना दिया है। लोग चाहते हैं कि सब लोग हमारे साथ ईमानदारी और प्रेम का व्यवहार करें पर ईमान और प्रेम का वे आदर नहीं करते। बड़े आदमी और भले आदमी शब्द का अर्थ आज धनवान है। दुनिया इसकी पर्वाह नहीं करती कि धन तुमने कैसे पाया और उसका तुम क्या उपयोग करते हो? दुनिया किसी भी तरह से पाये हुए धन की इज्जत करे और फिर हर एक से ईमान और प्रेम की आशा रक्खे ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं हम जिसकी कीमत अधिक करेंगे उसी की तरफ़ लोग बढ़ेंगे। हम धन का सन्मान अधिक करते हैं इसलिये सौ सौ पाप करके भी मनुष्य उसी तरफ़ बढ़ता है। फिर चाहे दिगम्बरत्व का पुजारी जैन हो चाहे वाममार्गी आचार-नास्तिक हो, दोनों में कोई अन्तर नहीं रहजाता।

धनवान में कोई गुण हो, त्याग हो तो उन का भी आदर न करना चाहिये यह बात नहीं है, मतलब यही है कि धनी

होने से ही आदर न होना चाहिये । धनवान के गुण और ईमान ही आदरणीय हैं । ख़ैर, जैन-शास्त्रों ने परिग्रह के पाप के विषय में जो विचार दिये थे उनका समर्थन व्यवहार के इन तुच्छ अनुभवों ने भी किया । धनकी महत्ता से मुक्त तो मैं आज भी अपने को नहीं बना पाया हूँ, उस दिन तो क्या बना पाता फिर भी इन विचारों का ख़याल व्यवहार में बना रहता था । इसलिये यह नियम बनालिया था कि किसी बड़ी ज़रूरत के बिना किसी धनवान के यहाँ न जाना । हां, जिससे ख़ास मित्रता हो या संस्था के कार्य से जाना पड़ता हो तो बात दूसरी है ।

ख़ैर, साधारणतः सन्मान के साथ सिवनी में मेरे दिन कटने लगे । जिन महाशयने साधारण क्लर्क के समान मुझसे काम लेना चाहा था वे भी समझगये और आदर करने लगे ।

सुधारकता का बीजारोपण

अभी तक मैं साधारणतः पुराने विचारों का ही आदमी था, सिवनी का वातावरण भी बिल्कुल पुराने विचारों के अनुकूल था । बनारस में तो मैं विधवा-विवाह के विरोध में लेख भी लिख चुका था । मेरी शिक्षा और संगति ऐसी थी कि सुधारकता का बीजारोपण उसमें अशक्य सा ही था, अंग्रेज़ी पढ़ा नहीं, विचारकों के संसर्ग में रहा नहीं, हिन्दी साहित्य उस समय इतना समृद्ध नहीं था और जो कुछ था भी वह भी मैंने देखा नहीं था, फिर भी स्थितिपालकों के गढ़ में रहकर मुझमें सुधारकता का आविर्भाव हुआ, कंस के कारागार में श्रीकृष्ण का, हिरण्यकशिपु के यहाँ प्रल्हाद का

जंन्म कैसे हुआ ये आश्चर्य इस आश्चर्य के आगे फीके पड़जाते हैं कि मुझमें सुधारकता कैसे आई? निमित्त बहुत ही साधारण था, ऐसा मालूम होता है कि सुधारकता मुझे सौभाग्यशाली बनाने के लिये कोई बहाना ही ढूँढ रही थी, अथवा भक्त देवी को नहीं, देवी भक्त को ढूँढ रही थी।

बात यों हुई-एक दिन मैं सागार-धर्मामृत पढ़ा रहा था उसमें कन्यादान का प्रकरण निकला-

निस्तारकोत्तमायाथ मध्यमाय सधर्मणे।

यहाँ साधर्मी को कन्या देने का विधान था। यद्यपि यह श्लोक मैं बनारस में भी पढ़ा चुका था पर तब तक काललब्धि ही नहीं आई थी या सत्येश्वर की कृपा नहीं हुई थी या असंख्य जन्मों का सञ्चित पुण्य उदयोन्मुख नहीं हुआ था इसलिये तब तक मुझे इस श्लोक में कुछ न सूझा। उसदिन यह बात खटकी कि साधर्मी को कन्या देने का विधान क्यों है, सजाति को क्यों नहीं? प्रचलित रीति के अनुसार तो यहाँ 'सधर्मणे' के समान 'सजातये' पद डालना भी ज़रूरी था।

बहुत ही मामूली प्रश्न था पर इस प्रश्न ने मेरे जीवन में उथलपुथल मचादी। पढ़ाकर मैं आया तो रात भर नींद नहीं आई। उपर्युक्त पद्यांश तो निमित्तमात्र था, मेरी विचार-धारा तो चारों तरफ़ फैली। विवाह का धर्म से क्या सम्बन्ध है? धार्मिक दृष्टि से नर और नारी में क्या भेद है, किसी कार्य को पुण्य या पाप कहते समय उसे किस कसौटी पर कसना चाहिये? इन विचारों में मैं रातभर

जागा । कभी लेट जाता था, कभी टहलने लगता था, कभी बत्ती तेज करके पन्ने पलटने लगता था कभी बत्ती धीमी करके सोचने लगता था । शान्ता (मेरी पत्नी) मज़े में सो रही थी और मेरे हृदय में तूफ़ान उठ रहा था या यों कहना चाहिये कि सुधारकता की प्रसवपीड़ा हो रही थी । मालूम नहीं वह कौनसी तिथि और तारीख थी पर मेरे जीवन की सब से अधिक महत्त्वपूर्ण रात्रि वही थी उसदिन मेरे आत्मा का जन्म हुआ था । उसके पहिले तो सिर्फ़ शरीर का ही जन्म था ।

रातभर विचार करने के बाद मैंने जो निर्णय किया उसका सार यह है "धर्म का जातिपाँति से कोई सम्बन्ध नहीं, विजातीय-विवाह का जैनधर्म समर्थन करता है, पाप रिवाज़ के तोड़ने में नहीं संक्लेश के परिणामों में है, विजातीय-विवाह से संक्लेशता का कोई सम्बन्ध नहीं, विवाह तो एक प्रकार का रिवाज़ है जैसी सुविधा हो वैसा रिवाज़ बनाना चाहिये, विधवाविवाह का रिवाज़ भी पाप नहीं है जैसे पुरुष को अपना दूसरा विवाह करने में विशेष संक्लेश नहीं, वैसे नारी को भी नहीं, इसलिये विधवाविवाह भी विधुर विवाह के समान है आदि"

इस प्रकार रातभर में मैं विजातीय-विवाह और विधवा विवाह का समर्थक बन गया । इतना ही नहीं इनके समर्थन के लिये मेरा दृष्टिकोण भी स्वतन्त्र हो गया । अभी तक मैं शास्त्रों के ज़रिये दुनिया पढ़ता था उसदिन से अपनी आँख (विवेक) से दुनिया पढ़ना सीखा ।

आज तो जैन-समाज का साधारण पढ़ा लिखा आदमी भी इन बातों को जानता है, इन बीस वर्षों में काफ़ी परिवर्तन हो गया

है अब ये बातें मामूली हैं, पर उस ज़माने में जैन समाज में ये बातें नई थीं। पहिले भी किसी विद्वान के ध्यान में आई होंगी पर समाज में इन विचारों का प्रचलन नहीं था। विधवा-विवाह की आवाज़ उठी थी पर उसका मुझे पता नहीं था और जब पता लगा तब यह अन्तर मालूम हुआ कि वह समय की दुहाई देकर उठी थी पर मैं विधवा-विवाह पर धर्मानुकूलता की छाप लगाना चाहता था। इतना ही नहीं ब्रह्मचर्याणुव्रत के सामूहिक प्रचार के लिये विधवा-विवाह को आवश्यक समझता था। जैन समाज के लिये ये सब विचार बहुत कुछ नये और क्रान्तिकारी थे।

बस, ज्यों ही मैं अपने विचारों पर स्थिर हुआ कि धीरे धीरे इनका प्रचार शुरू कर दिया। हाँ एक नियम मैंने प्रायः जीवनभर निबाहा है कि पढ़ाते समय अपने सुधारक विचारों का जिन्हें अधिकारियों के सामने छुपाने की ज़रूरत हो मैंने कभी क्लास में प्रचार नहीं किया। अगर किसी जिज्ञासु विद्यार्थी ने मेरे सुधारक विचारों के विषय में पूछा तो उससे यही कहा कि पढ़ाई का समय बीत जाने पर मेरे घर पर या और कहीं इस विषय में चर्चा करो। सिवनी में मैंने इस नीति का प्रारंभ किया और इन्दोर बम्बई में भी इसका पालन किया।

मेरे घर पर ये सब चर्चाएँ होने लगीं। कुछ वयस्क विद्यार्थी तथा अन्य गृहस्थ भी इस चर्चा में भाग लेने लगे। कुछ नवजवानी का जोश होने से अधिकारियों के रुष्ट होने की पर्वाह कम, फिर कुछ इस बात का घमंड कि मैं एक विद्वान हूँ, धार्मिक मामलों में

समाज को मुझ से कुछ कहने का क्या अधिकार है, और कुछ यह भ्रमपूर्ण विश्वास कि जब मैं विजातीय विवाह विधवा विवाह को जैनधर्म के अनुकूल सिद्ध कर दूंगा तब समाज को भी मेरी बात मानना ही पड़ेगी। इन तीन कारणों से मैं कुछ निर्भय था। बात यह है कि अपनी अनुभव-हीनता या भोलेपन के कारण समाज की विचारकता पर मैं ज़रूरत से ज्यादा विश्वास रखता था-सब को अपने समान निष्पक्ष समझता था। इसलिये अपने विचारों को बिना किसी विशेष संकोच के लोगों से कहने लगा।

पर कुछ दिन बाद मुझे ऐसा मालूम हुआ कि अपने ये विचार विद्वानों के सामने रखना चाहिये। या तो वे इसका ठीक उत्तर देंगे जिससे मैं अपने विचार बदल दूंगा अथवा वे अगर ठीक ठीक उत्तर न दे पायेंगे तो मेरे विचार मानलेंगे। अपनी अनुभव-हीनता के कारण मैं पंडितों को भी निःपक्षता और विचारकता के विषय में पूरा ईमानदार समझता था।

मैंने दो बड़े बड़े विद्वानों के पास लम्बे लम्बे पत्र लिखे जिस में विस्तार के साथ विधवा-विवाह का समर्थन था और विवाह-संस्था के विषय में अपना व्यापक दृष्टिकोण बतलाया था। एक हफ्ते में दोनों के उत्तर आये। एक ने लिखा था "मैंने इन बातों पर विचार नहीं किया मैं तो तुमसे यही कहूंगा कि इन झंझटों में न पड़ो, आत्मशान्ति के लिये धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय करो आदि" दूसरे ने ज़रा रोष बताया था और इसप्रकार के विचारों से विद्वत्ता को कलंकित न करने का उपदेश दिया था। दोनों ही उत्तरों से

मुझे असन्तोष हुआ । और इससे खेद और आश्चर्य भी हुआ कि उनने न तो मेरी बातों का उत्तर दिया न मेरी बातें मानीं। मैंने फिर पत्र लिखा कि मैं जैन हूं, समाज का नौकर हूं इसलिये आप मुझे धमका सकते हैं और कदाचित् रोटी के लिये मैं दब भी जाऊं पर अगर कोई जैनेतर विद्वान मेरे सामने ऐसे ही प्रश्न रखदे तो मैं क्या उत्तर दूं? आप कोई उत्तर बताइये, धमकाने से काम न चलेगा।

पर डाँट-डपट के सिवाय कोई उत्तर न मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि मुझे अपने विचारों पर दृढ़ विश्वास होगया। इतना ही नहीं अपनी विचारकता पर भी दृढ़ विश्वास होगया। इस प्रकार का उत्साह भी आया कि मैं किसी विषय में स्वतंत्र विचार भी कर सकता हूं और वे विचार इतने मज़बूत भी होसकते हैं कि बड़े बड़े विद्वान भी उन्हें न काट सकें।

उन दिनों सिंघई कुँवरसेनजी और स्व. श्री चैनसुखजी छावड़ा मेरे पास राजवार्तिक का स्वाध्याय करते थे। एक दिन उनने कहा कि "पं. रघुनाथदासजी (जैनगज़ट के सम्पादक) की चिट्ठी आई है जिस में उनने लिखा है कि सिवनी के युवकों में आप विधवा-विवाह के विचार फैलाते हैं सो यह बात क्या ठीक है?" यह कहकर उनने पं. रघुनाथदासजी की चिट्ठी भी दिखाई और फिर कहा, "देखिये, आपकी उम्र छोटी है फिर भी जब आप हमें राज-वार्तिक पढ़ाते हैं तब हम आपको गुरु ही मानते हैं जब गुरु ही ऐसे विचारों में बह जायगा तब शिष्यों की क्या दशा होगी?"

एक क्षणभर मैं घबराया, क्योंकि इतनी जल्दी मेरे विचारों का इतना कांड बन जायगा इसकी मुझे स्वप्नमें भी आशा न थी,

फिर सम्हलकर कहा, "मेरा ध्येय विचार है-प्रचार नहीं, इस विषय में विद्वानों से जो मैंने पत्र-व्यवहार किया है और समझदारों से जो चर्चा की है उसका मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि अगर कोई अपने से ऐसे प्रश्न पूछे तो उसको अच्छे से अच्छा उत्तर क्या दिया जाय ?

दोनों महानुभाव बोले-हां, हां, इस में कोई हर्ज़ नहीं, हम तो सिर्फ़ प्रचार ही की बात कह रहे हैं। मैंने स्वीकार किया कि इसका प्रचार न करूंगा।

इस प्रकार उन दोनों के विनीत व्यवहार ने अथवा चतुराई ने मुझे झुकालिया। अगर उनने यह समझकर कुछ कठोरता दिखाई होती कि यह तो हमारा नौकर है, तो मेरा अहंकार गर्ज पड़ा होता 'अच्छा, ये धनवान होने के कारण मुझे दबाते हैं, मैं भीख मांगूगा, भूखे मरूंगा पर इनकी धमकी में न आऊंगा, अवश्य प्रचार करूँगा, इस प्रकार विधवा-विवाह का जो आन्दोलन मैंने उस घटनाके नव दस वर्ष बाद शुरू किया वह तभी शुरू होगया होता। विधवा-विवाह के विषय में ठंडा हो जाने पर भी मैं विजातीय-विवाह के प्रचार में कुछ उद्योग करता ही रहा। उन दिनों मैंने एक महाकाव्य लिखने का विचार किया था और एक जैन कथानक के आधार पर 'क्षत्रिय रत्न' काव्य लिखना शुरू कर दिया था। वह हाथरस से निकलने वाले जैन-मार्तण्ड में निकला करता था। उसी में मैंने प्रकरण लाकर जातिपाँति तोड़ने के विषय में काफ़ी पद्य लिखे। काव्य काफ़ी सुन्दर था इसलिये सम्पादक ने प्रकाशित करने से इनकार तो न किया पर टिप्पणी लिखी कि ऐसे महान् और सुन्दर

काव्य में यह विवादग्रस्त विषय न लाया जाता तो ठीक था। मैंने इस विषय में चर्चा करने की चुनौती दी पर कोई आगे नहीं आया। मैं भी अपनी काव्यसाधना में लगारहा इस प्रकार विजातीय-विवाह का भी आन्दोलन न उठा पाया।

'क्षत्रिय-रत्न' एक बीस सर्ग का महाकाव्य बननेवाला था इसमें मैंने शृंगार वैराग्य करुणा वीर भक्ति बीभत्स आदि रसों का वर्णन, नैतिक उपदेश, कर्तृत्ववाद, कर्मवाद आदि दर्शनशास्त्र, वन, नगर भवन आदि का वर्णन, विस्तार से किया था, असहयोग युग आजाने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-नीति और सत्याग्रह और असहयोग के नाम भी लादिये थे। आज बीस वर्ष बाद भी वह रचना बहुत शिथिल नहीं मालूम होती फिर भी वह काव्य मैंने बीच में ही छोड़ दिया, करीब नवसौ पद्य या बारह सर्ग लिख पाया। कारण यह था कि इस काव्य के नायक के आठ विवाह हुए थे, काव्य जब शुरू किया था तब इतनी सुधारकता नहीं थी बाद में जब सुधारकता पनपी और मुझे शास्त्रों में भी बहुपत्नीत्व की प्रथा खटकने लगी तब आठ विवाह वाले इस नायक का काव्य लिखना भी मैंने बन्द कर दिया इस प्रकार वह अधूरा काव्य जैन मार्तण्ड की फायलों में ही रह गया। 'सम्यक्त्वशतक' नामका एक कवितामय धर्मग्रंथ भी मैंने लिखा था वह भी जैन-मार्तण्ड की फायलों में है। इसमें जैन-सम्प्रदाय के अनुसार सम्यग्दर्शन का साङ्गोपांग वर्णन है।

सिवनी में भी कुछ दिनों के लिये ध्यान का भूत सवार हुआ था। सिवनी के जैन मन्दिर में विशाल मूर्तियाँ हैं, एक विशाल-

काय काली मूर्त्ति के आगे शाम को ध्यान लगाने की आदत थी उससे बड़ी शान्ति मिलती थी । पलक बन्द किये बिना इकटक अधिक से अधिक देर तक मूर्ति के आगे देखता रहता और इकटक देखते रहने से आँखों के आगे अंधेरा छा जाय तब समझता था कि इस इस अँधेरे के बाद अवश्य किसी दिन कोई दिव्यदर्शन होगा पर जब बहुत दिन तक कोई दिव्य दर्शन न हुआ, अँधेरे तक ही दौड़ रही तब अपने को निर्बल या अभागी समझ कर वह प्रयत्न छोड़ दिया । आज तो उस अवस्था को मूढ़ता ही समझता हूँ जो धार्मिक अन्धश्रद्धा के कारण आगई थी और जो न्यायतीर्थ होने पर भी नहीं छूटी थी ।

सिवनी में कोई आर्थिक असन्तोष नहीं था फिर भी सिवनी में मन न लगा क्योंकि बनारस में सर्वार्थसिद्धि गोम्मटसार आदि पढ़ाता था जब कि सिवनी में सब से ऊंची कक्षा सागार-धर्मामृत की थी, सब छोटे छोटे विद्यार्थी थे । बनारस में जो सन्मान था वह यहाँ नहीं था । साथ ही विधवा-विवाह को लेकर जो चर्चा चली थी उसका अन्त अच्छा न आया इसलिये भी दिल कुछ खट्टा हो गया था । नम्रता और विनय से ही क्यों न रोका गया हो पर रोका गया इससे अभिमान को धक्का लगचुका था । स्वेच्छा से रुकगया होता तो कोई बात नहीं थी ।

इसलिये सिवनी छोड़ने के विचार में ही था कि सिवनी में प्लेग की बीमारी आगई । इसलिये दो माह की छुट्टी लेकर सिवनी छोड़ दी ।

(१७) शाहपुर में

सिवनी से छुट्टी लेकर जब चला तब यह भी सोचलिया था कि अगर कहीं अच्छी नौकरी लगजायगी तो दूसरी जगह चला जाऊँगा नहीं तो सिवनी ही लौट पडूंगा इसलिये सब सामान ले लिया था। रास्ते में जबलपुर में ठहरा भी। एक शिक्षाजीवी भाई ने यह आग्रह भी किया कि मैं यहाँ के जैन बोर्डिंग में धर्माध्यापक हो जाऊँ। जिन सज्जन के हाथ में बोर्डिंग का कारबार था उनसे उनने जिक्र भी किया। जहाँ मैं ठहरा था उसके सामने के मकान में वे रहते थे और बराण्डे में टहल रहे थे। उन भाई ने कहा कि अमुक पंडितजी आये हैं उन को जैन बोर्डिंग में रखने के लिये आप चलकर उनसे कहिये। उनने मेरे पास आना नामंजूर किया और कहा—उन पंडितजी को ही यहाँ ले आओ।

मुझे मालूम हुआ कि उन्हें अपने अधिकारीपन का कुछ खयाल आगया है। मैंने मान लिया कि यह तो मेरा अपमान है, धन और अधिकार के आगे इस प्रकार विद्वत्ता को नहीं झुकाया जा सकता। उन्हें मेरे पास आकर अनुरोध करना चाहिये था। मैं नौकरी की भीख माँगने ऐसे नासमझ लोगों के यहाँ क्यों जाऊँ?

मेरा यह घमंड कितना निःसार और पागलपन था, यह तो इन्दौर आने पर ही मालूम हुआ। पहिले तो ऐसे ही स्वप्न थे कि एक तरफ से राजा आरहा हो दूसरी तरफ से ब्राह्मण, तो राजा का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मण के लिये रास्ता छोड़ दे। मैं विद्वान हूं इसलिये कर्म से ब्राह्मण हूं इसलिये बड़े से बड़े श्रीमान् के आगे मेरा ऐसा

ही सम्मान होना चाहिये। ज्ञान पुण्योत्पादक है, धन पुण्योत्पादक नहीं, सिर्फ़ पुण्यफल है।

यों तो गरीब का लड़का होने से मुझ में दीनता ही अधिक है, यह कृत्रिम गौरव तो ब्राह्मणों के सहवास से आगया था। पर दुनिया कितनी बदल गई है इस का अनुभव होने पर यही कहना पड़ा कि वह सब पागलपन ही था। आज तो विद्वत्ता लक्ष्मी के इशारे पर नाचती है। लक्ष्मी रानी है, विद्वत्ता नर्तकी है। सेठों को हथियाने के लिये जैन पंडित जो चापलूसी करते हैं, उनके दोषों पर जो उपेक्षा करते हैं, क्षुद्र गुणों को जिस तरह बढ़ा बढ़ा कर स्तुतिगान करते हैं, सेठ लोग जिस तरह समाज को रखना चाहते हैं उसी तरह रखने के लिये पंडित लोग जो शास्त्र की दुहाई देते हैं, सेठजी नाराज न हो जाँयँ इसलिये अपने विचारों को दबाकर जो आत्महत्या करते हैं, उसको देखकर यही कहना पड़ता है कि लक्ष्मी सरस्वती को रानी नर्तकी की उपमा परिस्थिति का प्रतिबिम्ब ही है। उस में औचित्य भले ही न हो पर वस्तुस्थिति यही है।

अब तो यह भी सोचने लगा हूं कि विद्वानों का यह अपमान उचित भी है। क्योंकि जिस विद्वत्ता ने आत्मगौरव, सत्यभक्ति, सदसद्विवेक निर्भयता और आदर्श जीवन नहीं सिखाया उसका मूल्य नटकला के सिवाय और क्या हो सकता है? जब उस में आध्यात्मिकता के प्राण नहीं हैं तब भौतिक वस्तुओं की तरह अर्थशास्त्र के नियमानुसार वह दुनिया के बाजार में बिकेगी।

खैर, जबलपुर में नौकरी न की और छुट्टी के दिन काटने को लिये ससुराल (शाहपुर) आया । यहां दो माह रहा । बरसात के दिन थे, इसलिये व्यापार वहाँ का ढीला था, शाहपुर में जैनियों की खासी बस्ती है और सब एक ही जगह रहते हैं । कुछ शास्त्रप्रेमी लोग भी हैं । इसलिये सुबह, मध्याह्न और रात्रि में दो दो तीन तीन घंटे प्रतिदिन शास्त्रवाचन होता था । श्रोताओं का जमघट लगा रहता था । शाहपुर निवासी न होने पर भी शाहपुर मेरी जन्मभूमि थी , पुराने सम्बन्धी भी थे, ससुराल भी थी । इन सब बातोंसे दमोह की अपेक्षा शाहपुर ही अधिक प्रिय था । दो महीने रहा पर दोचार दिन को छोड़कर शेष सब दिनों निमन्त्रित ही रहा । मुझे निमन्त्रित करने के लिये लोगों में विवाद तक हो जाता था कि इतने दिन हो गये अभी तक हमारी वारी नहीं आ पाई । दूसरे दूसरे लोग ही निमन्त्रण करते हैं आदि । चार चार पांच पांच दिन पहिले से लोग निमन्त्रण के दिन रिज़र्व करालेते थे । मेरी उम्र का वह २१ वाँ वर्ष था पर बड़े बड़े बूढ़े भी गुरु की तरह विनय करते थे । शाहपुर के लोगों को आपस में खराब खराब गालियाँ देने की बड़ी बुरी आदत है पर उन दिनों आपस में गाली देना बन्द--सा हो गया था । आदत के अनुसार किसीके मुखसे निकल भी जाती तो दूसरा तुरंत टोकता--कैसा है रे ! सुन लेंगे तो क्या कहेंगे । यद्यपि प्रतिदिन सात आठ घंटे परिश्रम करना पड़ता था--बोलना पड़ता था--और आमदनी कुछ भी न थी फिर भी मेरे जीवन में वे दो महीने जितने आनन्द और निरकुलता से बीते वैसी निराकुलता न पहिले पाई थी न पीछे भी आज तक पाई है ।

शाहपुरवालों के इस आदर और प्रेम का ही यह परिणाम था कि छुट्टी के दिनों में मैं प्रायः शाहपुर ही रहता था। हर दिन चार छः दिन शास्त्र बाँचता था। इन प्रकार के प्रवचनों में मैं इतना तल्लीन हो जाता था कि साँप भी आजाय तो मुझे पता न लगे। एक दिन हुआ भी ऐसा ही।

गर्मी के दिनों में एक दिन मैं मंदिर के चबूतरे पर शास्त्र बाँच रहा था। लोग इतने अधिक नहीं आये थे कि उन्हें मेरे पीछे बैठना पड़ता, सामने ही १०–१५ आदमी बैठे थे। पीछे थोड़ी ही दूर पर एक खंडहरसा था, उस में से एक सांप आया और न जाने किस तरफ से मेरी गोदी में आ बैठा। थोड़ी देर बाद आदमी बहुत हो गये और मेरे चारों तरफ आदमी जम गये, इसलिये सांप को या तो निकलने में आदमियों का डर हुआ या गोदी में बैठना ही उसे अच्छा लगा। सांप अंगूठे बराबर मोटा और करीब दो फुट लम्बा था। पर शास्त्र बाँचने की धुन में न तो मुझे उसका आना मालूम हुआ, न उसका वजन। ढाई तीन घण्टे शास्त्र बांचने के बाद जब मैं उठने लगा तब पेट पर उसका स्पर्श मालूम हुआ, देखा तो सांप! मैं घबराया नहीं, धीरे से धोती हिलाई कि वह नीचे गिर पड़ा और खंडहर की तरफ चला गया। अच्छा हुआ कि मैं मुनिवेषी नहीं था नहीं तो इस प्रवाह के उठने में देर न लगती कि श्रीमान् धरणेंद्र जी मेरी दिव्य ध्वनि सुनने आये थे।

शाहपुर का शास्त्र-वाचन ऐसी ही तल्लीनता से होता था कि श्रोता, वक्ता सब सुधबुध भूल जाते थे। रिस्तेदारी लोप हो

गई थीं, अब तो श्रद्धा, आदर और प्रेम की व्यापक तथा गहरी जड़ जम गई थी।

पर इस गहरी जड़ को उखड़ने में देर न लगी। जब मैं विधवा-विवाह का आंदोलक बनकर समाज के सामने आया और शाहपुर के लोगों को यह मालूम हुआ तो श्रद्धा, प्रेम और विनय सब उड़ गये सिर्फ दिखाऊ शिष्टाचार [सो भी काफी अल्प मात्रा में] रह गया। सुधारक बनने से मुझे परिचय और चिंता का बोझ काफी सहना पड़ा है, आर्थिक संकट का भी सामना करना पड़ा है परन्तु सबसे अधिक चोट पहुँचाने की चेष्टा जिस ने की है वह है यह उपेक्षा और निरादर। समाज में ऐसे ऐसे विद्वान् त्यागी भी हैं जिनने जरजोरू का सचमुच त्याग कर दिया है पर इस उपेक्षा और निरादर की मार सहने की जिनमें ताकत नहीं है इसलिये दिल की बात समाज से नहीं कह सकते जब कि जीवन की पवित्रता और वास्तविक महत्ता के लिये उपेक्षा और निरादर पर विजय करना आवश्यक है।

कोई आदमी गुड़ पसंद नहीं करता इस लिये शक्कर खाता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह त्यागी है इसी प्रकार किसी को कंचन और कामिनी पसंद नहीं है, भय और आदर पसंद है तो यह सिर्फ रुचिभेद हुआ, त्याग नहीं। त्याग तो सत्य या विश्वहित की पर्वाह करना है भय और आदर की पर्वाह नहीं।

पर यह है काफ़ी कठिन ? जब मनुष्य यह देखता है कि जहां मैं देवता की तरह पुजता था वहाँ अब कोई मनुष्य समझने

वाला भी नहीं रहा, और सिर्फ इसलिये कि मैं जनहित की दृष्टि से कुछ अप्रिय सत्य बोलता हूं, तब वह घबरा जाता है उसका दिल उससे पूछने लगता है आखिर यह सब किस लिये । जिस रोगी के लिये वैद्य मरा जाता है उसी रोगी में जब कृतज्ञता के भाव नहीं दिखते बल्कि कृतघ्नता और घृणा दिखाई देती है तब वैद्य की हिम्मत टूट जाती है पर पक्के चिकित्सक और कच्चे चिकित्सक की यहीं कसौटी होती है ।

इस प्रकार के कच्चे चिकित्सक से भी इतनी हानि नहीं है जितनी दम्भी चिकित्सक से । चिकित्सक रोगी का पागलपन तो न सह सके पर फीस वसूल करना चाहे तब वह भयंकर हो जाता है। फीस के लिये वह रोगी के हिताहित की पर्वाह किये बिना रोगी की इच्छा के अनुसार नाचने लगता है । इसी प्रकार नामकीर्तिलोलुप जनसेवक जनता की इच्छा के अनुसार नाचने लगते हैं । यही कारण है कि कंचन कामिनी से विरक्त पुरुषों को भी समाज के सामने इतना डरपोक पाया जितना पेट के लिये विवेक की हत्या करने वाले पंडितों को । इससे माल्म होता है कि समाज का यह शस्त्र कितना घातक है ?

जहां लोग हमें सिर आंखों पर रखते रहे हों, सुधारक होने से अगर यह सोचना पड़े कि वहां जाँयगे तो कहां ठहरेंगे और खाने का इन्तजाम क्या करना होगा ? तब आदमी इस अपमान से मर्माहत हो जाता है । समाज इतना अपमान दुराचारियों और दंभियों का भी नहीं करती । पर इसका दुष्परिणाम भी समाज को ही भोगना पड़ता है कि उसे सच्चे सलाहकार या सेवक नहीं मिलते, मिलते हैं तो समाज लाभ नहीं उठा पाती ।

सुधारक होने से शाहपुर ही मेरे लिये ऐसा बदला इतनी ही बात नहीं है, जैन समाज के बीसों नगर हैं जहाँ इस परिवर्तित परिस्थिति का सामना थोड़ी बहुत मात्रामें मुझे करना पड़ा है, आज भी करना पड़ता है या मौका आने पर करना पड़े पर ये और इससे भी बड़ी बड़ी बातें मेरे लिये इतनी साधारण हो गई हैं कि उन पर ध्यान देने बैठूं तो जीना दूभर हो जाय । सोचता हूं दुनिया ने लोकोत्तर महापुरुषों को भी इसी तरह और इससे भी बुरी तरह इतना सताया है कि मुझ सरीखे तुच्छ व्यक्ति के साथ जो व्यवहार किया है वह उसकी दयालुता ही है अथवा उसमें निर्दयता की अपेक्षा दया का अंश ही अधिक है।

राजनीति-बहादुर भी सामाजिक सुधार में मौके पर खिसकते देखे जाते हैं इसका कारण यह है कि राजनीति की अपेक्षा सामाजिक क्रान्ति में मनोबल की अधिक आवश्यकता होती है । इसके चार कारण हैं--१ राजनीति में राजदंड का डर है पर जनता की तरफ़ से पूजा मिलती है समाजक्रान्ति में घर बाहर सब जगह धिक्कार ही धिक्कार है । २--राजनीति बाज़ार है और समाजनीति घर । राजनीति के नाम पर किये गये रूढ़िविरुद्ध कार्यों पर लोग कम ध्यान देते हैं पर समाज के नाम पर किये गये रूढ़िविरुद्ध कार्यों से लोग पीस डालना चाहते हैं । जैसे बाज़ार में कोई नहीं पूछता कि तुमने किसे सौदा बेंचा, किस के साथ साझा किया, किसके साथ खाने का नाता जोड़ा पर घर में सब पूछते हैं कि तुमने किसे रोटी खिलाई किसके साथ रिश्ता जोड़ा आदि, इस प्रकार समाजनीति पर जनता की वक्र दृष्टि अधिक रहती है । ३--राजनीति में लौटने

की गुंजायश अधिक है, समाजनीति में कम। कल आप हिंसक क्रान्तिकारी थे, जेल भी हो आये थे आज अहिंसक बन सकते हैं। जिस सरकार से लड़े थे उसी के सन्मानास्पद बन सकते हैं, अंग बन सकते हैं, पर एकबार सामाजिक क्रान्ति की, विजातीय विवाह, विधवाविवाह किया कि पुश्त दर पुश्त के लिये अलग हो गये। महाप्रलय के सिवाय लौटने का कोई मार्ग नहीं। ४—राजनीति नगद पुण्य है, एकाध बार जेल काटी कि कौंसिल, असेम्बली, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युन्युसपलिटी आदि में सिंहासन रिजर्व होने लगते हैं या मिलते हैं, पर समाज--नीति में इतना ही लाभ है कि मरने के बाद कदाचित् तुम्हारी क़ब्र पर या चिता पर कुछ लोग दो आँसू चढ़ादें, जिन्हें तुम देख नहीं सकते, हाँ, उनकी आशा में आज तुम जीना चाहो तो जी सकते हो।

इस प्रकार सामाजिक क्रान्ति का मार्ग बड़ा कठिन है। इस देश में अनेक राज्यक्रान्तियाँ हो गईं पर समाज करीब करीब ज्यों का त्यों हैं।

खैर, मुझे तो आत्मकथा कहना है। वह एक तो योंही तुच्छ और निःसार है उस में ऐसी चर्चा के पत्थर डाल देने से वह और भी अरुचि-कर हो जायगी। हां, तो बात यह कहरहा था कि शाहपुर के वे दिन भले थे। पर जीवनभर शाहपुरवासियों के सादर निमन्त्रणों पर तो गुजर हो नहीं सकती थी, कहीं न कहीं नौकरी ढूँढ़ना जरूरी था। नियमानुसार छुट्टी पूरी होने पर मुझे सिवनी लौट जाना चाहिये था पर सिवनी जाने को जी नहीं चाहरहा था। इतने में सम्मेदशिखर पर शास्त्रवाचन आदि के

लिये नोकरी का एक विज्ञापन पढ़ने में आया। मासिक वेतन था १००)। मैं लुभाया। बड़ी योग्यता से पत्रव्यवहार किया अपनी योग्यता का छोटा-सा इतिहास लिख मारा, पर उत्तर आया तो उसमें लिखा था कि हमें आप सरीखे योग्य विद्वान की बड़ी जरूरत है पर खेद है आपकी उम्र सिर्फ २१ वर्ष है जब कि हमें कम से कम ३५ वर्ष का आदमी चाहिये।

योग्यता तो किसी तरह खींचतान कर बढ़ाई जा सकती थी पर उम्र को कैसे खींचता तानता। लिहाजा अपनासा मुँह लेकर रह गया। इतने में एक मित्रने कहा--इन्दोर में धर्माध्यापक की जगह खाली है, आप वहाँ क्यों नहीं चले जाते? मैंने पत्र लिख दिया। ५५) महीना और रहने को मकान के साथ नौकरी मिल गई। यहाँ मेरे पुराने सहपाठी और मित्र भी थे। सिवनीवालों को जब मालूम हुआ तो मुझे लिखा, अधिकारियों पर जोर डाला कि हमारा पंडित तुमने क्यों ले लिया? मैंने उनको लिखा कि पंडित कोई दासदासी या जानवर नहीं है कि कोई किसी से लेले। साथ ही यह भी लिखा कि सिवनीवालों ने पांडित्य का पूरा सन्मान नहीं किया। आपने अमुक जगह सन्मान नहीं किया और अमुक ने तब सन्मान नहीं किया आदि। पांडित्य के गौरव की रक्षा के नाम पर झूठे अहंकार के कारण मेरा वह पत्रव्यवहार इतना कटु हो गया था कि उसे नादानी और असभ्यता कहा जा सकता है। इसका दण्ड भी मुझे लगे हाथ मिल गया क्योंकि सिवनी में जिन घटनाओं को मैंने अपना अपमान समझा था वैसी घटनाएँ इन्दोर में सन्मान समझीं जातीं थीं।

(१८) इन्दोर में

इन्दोर के छः वर्ष मेरे विकास के दिन हैं। सिवनी में सब पुराने विचार के लोग थे पर वहीं सुधारकता का बीजारोपण हुआ। इन्दोर सुधरकता में कदाचित् सिवनी से भी पीछे था, मेरे सब सहयोगी पुराने विचारों के पंडित थे फिर भी आश्चर्य है कि कोई अज्ञात शक्ति सिवनी में बोयेगये बीजको इन्दोर में पानी दे देकर पनपाती रही। ख़ैर, सुधारकता के विषय में कुछ कहूं इसके पहिले इन्दोरी-जीवन की अन्य बातों की खतौनी कर लेना ठीक होगा।

इन्दोर में आकर मुझे अपनी और पंडितों की स्थिति का ठीक ठीक ज्ञान हुआ। अभी तक मुझे सतयुग के वे ही स्वप्न आते थे जब बड़ा से बड़ा धनवान और चक्रवर्ती सम्राट् तक विद्वान के सन्मान में खड़ा हो जाता था और उन के घर जाने में संकोच नहीं करता था और अपने घर बुलाने में सौभाग्य समझता था। पर इन्दोर में आकर मुझे मालूम हुआ कि दुनिया ऐसी नहीं है। यहाँ रुपयों की गिड्डी की ऊँचाई से आदमी की ऊँचाई मापी जाती है। पर यह बात मेरी प्रकृति के विरुद्ध थी इसलिये सर्कस के शेर की तरह परिस्थिति देखकर तमाशा दिखाता था, अपमान भी सहता था पर यह सब उतना ही, जितने के लिये विवश होना पड़ता, अन्यथा मन तो गर्जता ही रहता था। पर गर्जना निष्फल थी इस लिये उसने मुझे एकान्तप्रिय बना दिया था। एकान्तप्रियता कुछ तो स्वभाव में थी कुछ परिस्थिति ने

साथ दिया इस प्रकार उसने पनपकर जीवन का काफ़ी हिस्सा घेर लिया । मेरे जीवन के विकास के लिये यह ज़रूरी भी हुआ । विधिकी गति !

यद्यपि मेरे जीवनमें उछलना-कूदना-हँसना, खूब विनोद करना आदि सब कुछ था पर इन सबका क्षेत्र साथ के कार्य-कर्ताओं तक ही रहा । अधिकारीवर्ग तथा समाज के लोगों से तो दूर रहने की वृत्ति ही रही । इसी एकांतप्रियता में मुझे अपने अभिमान की रक्षा मालूम होती थी । परिस्थितियों ने ठोक पीटकर काफ़ी ठिकाने ला दिया था इसलिये अभिमान का गर्जन बन्द-सा ही हो गया था पर वह मरा नहीं था, एकांतप्रियता या असंघर्ष नीति के कारण सो गया था । जो चोटें रोज़मर्रा की थीं और साधारण थीं उनमें तो वह विशेष नहीं जागता था पर कोई विशेष ठोकर लगते ही वह कूदने लगता था । जैसे रेलगाड़ी की गड़गड़ाहट कुछ स्थायी होने से नींद में बाधा नहीं डालती किंतु अपने को लक्ष्य में लेकर जब कोई बोलता है तब अपनी नींद खुल जाती है, इसी प्रकार नई चोट जब थोड़ी भी होती थी तब अभिमान जग पड़ता था। कभी कभी वह औचित्य के बाहर भी चला जाता था और निरर्थक या बेहूदा भी हो जाया करता था ।

एक बार मैं पर्युषण में शास्त्र-गद्दी पर बैठा था, सेठ हुकुमचन्द जी ने कहा, ज़रा ज़ोर से पढ़ो मैंने आवाज़ को और खींचा । सेठजी बोले— ज़रा और ज़ोर से

पढ़ो। मैंने कुछ रुष्ट होकर कहा— आप अपने कानों को सँभालेंगे तो ज़रूर सुन पड़ेगा यों चिल्लाने से नहीं सुना जा सकता। पहिली बार सेठजी ने टोका तब मैंने उसे एक श्रोता की सूचना समझा पर दूसरे बार जब टोका तब समझा कि यह श्रोता की सूचना नहीं है अधिकारी का हुक्म है। इसलिये मैंने आव देखा न ताव—फटकार दिया।

निःसंदेह इसे श्रोताओं ने सेठजी का अपमान समझा पर सेठजी ने होशियारी से काम लिया और जब मैं शास्त्र-गद्दी से उठा तो उनने मुझे प्रेम से छाती से लगा लिया। सेठ हुकुमचन्द जी में यह गुण तो है ही कि वे निर्भयता की स्तुति करते हैं। इसी तरह एक दूसरी घटना भी हुई।

सेठ हुकुमचन्द जी के जन्मदिन की सभा जँवरीबाग विद्यालय में की जाती थी। विद्यालय की सभाओं का मैं स्थायी-सा वक्ता था, पर उस दिन व्याख्यान देने से मैंने मना कर दिया। एक धनी आदमी की इसलिये स्तुति करना कि हम उसकी संस्था में नौकरी करते हैं, यह तो विद्वत्ता का अपमान है - ऐसा ही कुछ पागलपन या अहंकार मन में था। पर अन्य लोगों ने मुझे इतना विवश किया कि मुझे बोलना ही पड़ा। पर बोलना न बोलने से भी बुरा हुआ। मैंने कहा—सेठजी ने पूर्व पुण्य के उदय से जो लक्ष्मी पाई उसका उनने अच्छा उपयोग किया है और यश भी पाया है, पर दान की सार्थकता धन देने में ही नहीं है किंतु धन का उपयोग अच्छा से अच्छा हो इसके

उद्योग में है । मिट्टी से ही बाग नहीं बनता उसके लिये चतुर और कर्मठ माली बनना पड़ता है । सेठजी ने मिट्टी का ढेर दिया है पर माली न बने...., आदि । व्याख्यान से काफी क्षोभ हुआ । एक समाजनेता ने, जो बाहर से आये हुए थे, मेरी बातों का यह कहकर तीव्र विरोध किया कि ऐसे महान व्यक्ति का ऐसे अवसर पर अपमान न करना चाहिये, मैंने हँस दिया । सेठजी ने कहा--मुझे जो सीख दी गई है उसके लिये मैं आभारी हूँ । पंडितजी के (मेरे) कहने में कोई बुराई नहीं है, दूसरे वक्ताओं को पंडितजी के कहने का विरोध न करना चाहिये । पंडितजी ने तो मेरे और संस्था के भले के लिये ही कहा है ।

कभी कभी तो मेरा अभिमान यों ही भड़क जाता था । एक बार विद्यालय में अध्यापकों को कुछ सूचनाएँ आईं । खास मुझ को लक्ष्य कर के उसमें कुछ नहीं था, सबके लिये सूचनाएं थीं पर उन्हें पढ़कर मुझे बड़ा बुरा मालूम हुआ । मनमें सोचा ये लोग कुछ समझते तो हैं ही नहीं धन और अधिकार के बल पर विद्वानों को यों ही डाँट डपट बताया करते हैं । बस, सात आठ पेजका एक चिट्ठा लिखकर बाक़ायदा ऑफिस में भेज दिया जिस में था कि शिक्षा-प्रणाली क्या होती है, संस्था क्या चीज़ है, अधिकारी को किस ढंगसे काम करना चाहिये आदि । अंत में कुछ इस ढंग का लिखा था कि अध्यापकों के पास सूचनाएं काफ़ी सोच समझ के भेजना चाहिये । अध्यापक ढोर नहीं चराते— मनुष्य चराते हैं ।

हुआ कुछ नहीं। अधिकारी भी मेरी प्रकृति से परिचित हो गये थे इसलिये छेड़खानी कम करते थे। और मैं भी अनुभव-हीन होने के कारण मर्यादा से बाहर लिख जाता था या बोल जाता था। इससे इतना मालूम हो सकता है कि मैं कैसा जीव था और अमुक अंशों में अभी भी हूं।

आज भी मैं ऐसे धनवानों को जानता हूं जिनसे मैंने प्रेम किया है, मित्रता रक्खी है और उनके पोजीशन को किसी भी तरह धक्का नहीं लगाया, पर जहां मुझे यह मालूम हुआ कि धन के कारण वह अपने को लोकोत्तर व्यक्ति मनवाना चाहता है, विद्वत्ता और सेवकता का अपमान करना चाहता है वहीं तनकर खड़ा हो गया हूँ। जैनधर्म के अपरिग्रहवाद का और छात्रावस्था में ब्राह्मणों की संगति का मेरे ऊपर ऐसा ही असर पड़ा है। यों व्यक्तिमात्र से मेरा व्यवहार प्रेमपूर्ण और अभिमानशून्य ही रहा है और जिनको गुरु समझा उनके सामने तो बिलकुल झुका रहा हूं। सागर पाठशाला में मैं अपने अध्यापकों की जूती उठाने को सौभाग्य समझता था। उनकी हरएक सेवा करने में मुझे प्रसन्नता होती थी और अगर वे किसी कारण गाली दें, अपमान करें तो सिर झुकाकर सह लेने में मैं आदमियत समझता था।

एक बात और है कि स्वभाव से मुझ में विनय हो या न हो पर दीनता अवश्य है। दीनता एक दोष ही है जो कौटुम्बिक परिस्थिति के कारण मुझ में आगई है इस प्रकार दीनता विनय और अभिमान तीनों के मिश्रण से मैं एक विचित्र सा जीव

बन गया हूं। यद्यपि इस मिश्रण के दोषांश को हटाने की और गुणांश को बढ़ाने की कोशिश करता रहत हूँ पर प्रारम्भ के संस्कार निर्मूल नहीं कर सका हूँ।

अध्ययन

इन्दोर के जैनसमाज के जीवन में न मिल सकने का और सहज एकांतप्रियता का असर यह हुआ कि अध्ययन की गति तेज़ हो गई। विद्यालय की लायब्रेरी की फ़ी सदी नब्बे पुस्तकें मैंने पढ़ डालीं। राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, शासन-प्रणाली, विविध देशों और समाजों के इतिहास, राज्यक्रांतियों के इतिहास महापुरुषों के जीवन-चरित्र, नाटक, उपन्यास आदि कथा साहित्य भ्रमणवृत्तान्त दार्शनिक और वैज्ञानिक लेख आदि जिस किसी विषय की पुस्तक मुझे मिलती थी मैं पढ़ डालता था। समाचारपत्रों में लोग समाचार मुख्यता से पढ़ते हैं पर मैं लेखों को मुख्यता से पढ़ता था, इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी का ज्ञान न होने पर भी मेरी नजर के सामने दुनिया घूमने-सी लगी। विचार और चिंतन के द्वारा उन्हें पचाकर अपने रूप में लाने की भी कोशिश की इसका यह परिणाम हुआ कि विरोधी वातावरण के रहते हुए भी मेरी सुधारकता दिन दूनी रात चौगुनी पनपने लगी।

इन्दोर में ही मैंने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की विशारद और साहित्यरत्न की परीक्षाएं पास कीं। संस्कृत की अन्य परीक्षाएं भी देने की तैयारी की थी पर असहयोग आंदोलन उठ खड़े होने से उन परीक्षाओं में नहीं बैठा।

राजनीति में

इन्दोर में मैंने सार्वजनिक क्षेत्र में भी प्रवेश करने की कोशिश की। उन दिनों असहयोग का प्रवाह चारों तरफ बहने लगा था उसमें मैं बहा तो नहीं पर तैरा अवश्य। राजनीति का ज्ञान तो खाक नहीं था कुछ वक्तृत्व जरूर था, लच्छेदार भाषा में दत्तमन्दिर तथा थियेटर में भाषण हुआ करते थे। एक सभा बनाकर मुहल्ले मुहल्ले में भी भाषण करने का कार्यक्रम रक्खा। सरकार को कोसना बस इतनी ही राजनीति समझता था। वक्तृत्व का जीवन से बहुत ताल्लुक है इस ज्ञानपर कितनी उपेक्षा थी यह बात इसी से माळूम हो सकती है कि बहुत दिनों तक स्वदेशी पर व्याख्यान देने पर भी विदेशी वस्त्र पहिनता था। दो तीन महिने बाद विदेशी वस्त्र का त्याग किया। रियासत के शासन के विरुद्ध भी काफ़ी आग उगलना शुरू कर दिया था हालाँ कि तब तक शासन के विषय में समझता कुछ नहीं था। व्याख्यान में पकड़ा न जाऊं इसलिये इन्दोर नरेश को शासन की बुराइयों से मुक्त रखकर या थोड़ी बहुत उनकी कभी तारीफ़ करके नौकरशाही को कोसता था। कई बार रियासत ने मुकदमा चलाने का विचार भी किया पर शब्दों की पकड़ में न आने से मुकदमा न चल सका। कुछ ऐसे मित्र मिलगये थे जिनका शासक वर्ग से काफ़ी ताल्लुक था और जो मुझे इन बातों की सूचना किया करते थे।

उस समय राजनीति का कुछ भी ज्ञान न था सिर्फ़ गाल बजाना आता था, किसी तरह इन्दोर का प्रसिद्ध वक्ता बन

जाना लक्ष्य था सो बन गया था । राजनीति अगर सीखी थी तो इतनी ही कि असहयोग और सत्याग्रह हुआ कि अंग्रेज भागते बाज़ार नजर आये । राजनैतिक बलाबल क्या है इसका ज्ञान बहुत पीछे हुआ । सत्याग्रह और असहयोग के आन्दोलन देश में जागरण पैदा कर सकते हैं उसे स्वतंत्र नहीं कर सकते इसके लिये कुछ और करना चाहिये यह सीधी-सी बात बहुत दिनों बाद समझा ।

सामाजिक सभाओं में

जातीय सभा में अच्छी तरह भाग लेना भी यहीं शुरू हुआ । इसके पहिले तो यों ही तमाशबीनसा बनकर परवार-सभा में गया था । इन्दोर आकर परवारबन्धु का सम्पादक बना, कई वर्ष रहकर और सभा के काम में भाग लेकर यही समझा कि ये सभाएं नये लोगों के नेतृत्व खरीदने की दूकानें हैं इनसे बहुत कम काम हो सकता है । अर्थात् मुहर देकर पैसे का काम हो सकता है । प्रतिनिधितंत्र की या प्रतिनिधितंत्र का ढोंग करनेवाली सभाओं से सामाजिक क्रान्ति नहीं हो सकती ।

एक बार की बात है कि सोनागिर में परवार-सभा का अधिवेशन हो रहा था । सभा के सञ्चालक जैनहितैषी आदि कुछ पत्रों के बहिष्कार का प्रस्ताव लाना चाहते थे । पर मैंने विरोध किया । मेरा कहना था कि "जब तक वे पत्र जैनधर्म की या महावीर स्वामी की निन्दा नहीं करते, जैनधर्म और जैनसमाज को अपमानित करना उनका ध्येय है यह साबित नहीं

हो जाता, तबतक हमें उनका बहिष्कार न करना चाहिये। अगर उनके विचार युक्ति-विरुद्ध हैं तो हमारे भीतर एक से एक बढ़कर विद्वान हैं उनसे खंडन कराना चाहिये। सम्भव है हमारी युक्तियों से उनका मत बदल जाय या उनकी बातों में सचाई हो तो हमारा मत बदल जाय दोनों तरफ़ से कल्याण ही कल्याण है बहिष्कार से तो द्वेष घृणा और हठ ही बढ़ेगा।'

मेरी इन बातों से और लोगों ने भी सहमति प्रगट की और कहा कि वोट का समय आने दो हम आपके पक्ष में वोट देंगे। पर जनरल अधिवेशन पर जब मैंने उपर्युक्त ढंग से बहिष्कार का विरोध किया तब सभा के स्वयम्भूनेताओं की तरफ़ से जनताको इस प्रकार भड़काया गया 'भाइयो, जैनधर्म अनादिनिधन है इसको पाकर अनन्तानन्त जीव मोक्ष गये हैं, उसपर अगर थोड़ा भी आक्रमण हो तो हमें प्राण दे देना चाहिये फिर बहिष्कार की बात ही क्या है ? क्या आपको पवित्र जैनधर्म प्यारा नहीं है ? यदि है तो धर्म-द्रोहियों का करो बहिष्कार, हूँ ३ चलो, उठाओ हाथ, बोलो महावीर स्वामी की....जय !

इस प्रकार जय के साथ सैकड़ों हाथ उठ पड़े जब कि प्रस्ताव के विरोध में अर्थात् मेरे पक्ष में सिर्फ एक ही हाथ उठा, सो वह भी मुझ बेवकूफ का ही था। मेरी बातों का समर्थन करने वाले कुछ पंडित हवा का रुख देखकर भीगी बिल्ली से दुबककर बैठ गये थे।

सभाओं का यह अनुभव मुझे नया ही था। कुछ समय बाद तो मैं भी चतुर हो गया, परवार-बन्धु का सम्पादक भी

बन गया जो कि परवार सभा का मुख पत्र था। आशा थी कि अब मैं कुछ कर सकूंगा पर सभा के मंत्रीजी समाज के अनुसार ही चलना चाहते थे एक तरह से वे सुधार के विरोधी थे। मैंने सोचा अगर सभा के मंत्रीजी बदल जाँयँ तो शायद सुधार करने में सुभीता हो। बड़ी मुश्किल से नागपुर अधिवेशन में हम लोग इस प्रयत्न में सफल हुए। मंत्रीजी बदल गये। पर कुछ ही दिन बाद माळूम हो गया कि नागनाथ साँपनाथ में कोई अन्तर नहीं है। छोटी छोटी तुच्छ सुविधाओं के लिये सिरफोड़ी करना और समझना कि हमने बड़ी बहादुरी की है हम बड़े सुधारक हैं इसके सिवाय कोई सुधार नहीं हो सका। साधारण सुविधाएँ तो लोग यों ही लेलेते हैं उनके लिये सभा बनाने की या तूल देने की जरूरत नहीं है। बाल्यावस्था में ऐसे विवाहों में गया हूं जिन में आठ आठ पगतें होतीं थीं और मेरे ही देखते देखते परवार-सभा और परवार-बन्धु के बिना ही आठ के बदले दो पंगतें रह गईं। बीसों विवाह आठ सांक के बदले चार सांक में हो गये। चार सांक का अब कोई विरोध नहीं है फिर भी परवार-सभा चार सांक का प्रस्ताव पास नहीं कर सकी। इस प्रकार जिन बातों को समाज अपना लेती है उनके प्रस्ताव की जरूरत नहीं रहती और जिनको समाज नहीं अपनाती वे संगठननाशक कहलाते हैं इसलिये नहीं लाये जाते इस प्रकार परिवर्तन के क्षेत्रमें दोनों तरहसे सभाएं निकम्मी सी रहतीं हैं।

परवार-सभा की स्थापना के पहिले बुँदेलखंडमें परवार और

गोलापूर्व बहुत मिलकर रहते थे, परवार-सभा के बाद उन्हें मालूम हुआ कि एक ऐसी भी जगह है जहां हम बराबरी के नाते से परवारों के साथ नहीं बैठ सकते, इसलिये गोलापूर्व सभा भी कायम हुई। गोलापूर्वों को भी अपनी जातीय सभा की आवश्यकता मालूम हुई पर गोलापूर्व सभा नहीं चली, पत्र भी नहीं चला इसलिये परवारों को मन ही मन अभिमान आया गोलापूर्वों में दीनता और ईर्ष्या आई, दोनों में जातीय द्वेष पैदा हुआ और पीछे से वह शिक्षण-संस्थाओं आदि में भी घुसगया। इसप्रकार समाज-सुधार और सामाजिक क्रान्ति के लिये तो ये सभाएँ कुछ कर न पाईं—हाँ, जातीय द्वेष अवश्य पैदा कर दिया।

अनुभव और तर्क ने यह बात अच्छी तरह समझा दी कि इन सभाओं के द्वारा अल्पफल बहु-विघात के ढंग का थोड़ा बहुत और काम भले ही हो जाय, जातीय या साम्प्रदायिक अहंकार की पूजा के लिये तन धन का कुछ बलिदान भी हो जाय, क्षोभ भी फैल जाय पर समाजसुधार या आवश्यक सामाजिक क्रान्ति नहीं हो सकती। मैं आठ दस वर्ष परवार सभा से चिपका रहा और परवार बन्धु का सम्पादक भी बहुत वर्षों तक रहा पर उससे जो विविध अनुभव मिले उनने मुझे निश्चय कराया कि ये सभाएं समाज की गुलामी के स्थान हैं-समाज की सेवा के नहीं।

परवार सभा से ध्यान हटा कर दि. जैन परिषत् की तरफ मैंने ध्यान दिया। यह परिषत् महासभा से हटकर कुछ सुधारकों ने इसलिये बनाई थी कि जिससे समाज-सुधार के काम किये जा सकें। उसके लखनऊ आदि के अधिवेशनों में मैं

इसीलिये गया भी। मैं समझता था कि परिषत् सुधारके कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिये सुधारकों का संगठन है। पर मैंने देखा कि परिषत् के संचालकों को सुधार और समाज-सेवा का इतना ख्याल नहीं है जितना इस बात का कि परिषत दि. जैनियों की प्रतिनिधि सभा कैसे बन जाय ?

प्रतिनिधित्वकी वेदीपर सुधारकता का बलिदान करके ये परिषत् का क्या करेंगे ? महासभा से अलग होने का मतलब ही क्या रहेगा। इसका इन्हें ध्यान नहीं था। विजातीय विवाह पर मैं काफी आन्दोलन कर चुका था उस प्रचंड आन्दोलन के फल स्वरूप उसकी धर्मानुकूलता समाज हितकरता विचारकों में निर्विवाद बन गई थी, किन्हीं किन्हीं प्रान्तों में उस नीतिसे काम भी होने लगा था फिर भी लखनऊ अधिवेशन में परिषत् विजातीय-विवाह का प्रस्ताव पास न करसकी, लम्बे समय के इन सब अनुभवों से मैं अच्छी तरह समझ गया कि सुधार या क्रान्ति करने के लिये एक स्वतन्त्र संगठन की जरूरत है, समाज के बहुमत के आधार से क्रान्ति नहीं हो सकती। समाज पहिले तुम्हारे कामी देखती है तब मानती है अब तुम समाज की मान्यता होने पर काम करो इस प्रकार तुम्हारे काम देखे बिना समाज की मान्यता में सुधार न हो और समाज की मान्यता बिना तुम काम न करो तब तो प्रलय तक भी कुछ न होगा।

तब मुझे समझ में आया कि महावीर बुद्ध ईसा मुहम्मद आदि पुरुषों को धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति के लिये अपनी स्वतन्त्र धर्मसंस्था या समाजसंस्था क्यों बनाना पड़ी ? बात यह है

कि युद्ध में, चिकित्सा में, सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति में बहुमत कुछ काम नहीं देता। बहुमत बनाने के लिये पहिले एक ऐसा स्वतन्त्र संगठन करना पड़ता है जिसे सत्य की पर्वाह होती है बहुमत की नहीं।

सत्ता को नियंत्रित रखने के लिये प्रतिनिधि संस्था की जरूरत है, युद्ध और क्रान्ति के लिये तो एक तरह के आदमियों का दृढ़संगठन चाहिये।

इन्हीं सभाओं में मुझे सब बात के प्रमाण मिले कि राजनीति और समाजनीति को जुदा जुदा करके मनुष्य कैसा दम्भ करता है? एक बार परवारसभा में चार सांकों के प्रस्ताव पर चर्चा चलरही थी, मेरे सिर में दर्द हो रहा था इसलिये मैं भीड़ से कुछ बाहर सिर पकड़े बैठा था। एक सज्जन आये, बोले-आपकी तबियत बहुत खराब है आप डेरे पर जाकर सो जाइये। मैं उनका मतलब ताड़ गया, मैंने कहा आपकी यही मंशा है न कि आपके विरोधियों का एक वोट और कम हो जाय। वे लज्जित हो गये। मुझे आश्चर्य हुआ कि ये सज्जन कांग्रेस के खास कार्यकर्ता हैं कांग्रेस ने अछूतोद्धार आदि बातें अपनी योजना में शामिल करदीं थीं पर और बड़ी बातें तो जाने दीजिये इस आठ साँक चार साँक में भी ये पुराने लोगों के साथी थे। तभी से मैं महसूस कर रहा हूं कि सामाजिक धार्मिक क्रान्ति के लिये राजनैतिक रंगमंच यहां काम नहीं दे सकता। पीछे तो इस बात के समर्थन में और भी अनेक अनुभव हुए।

इस बात के भी बहुत अनुभव हुए कि जिनकी रोटी समाजके हाथमें हैं अर्थात् जो समाज के नौकर हैं उन्हें स्वतंत्र विचार करना कठिन है और समाज का रोष उन पर सब से अधिक उतरता है। एक बार मेरे एक लेख के कारण जबलपुर के लोग क्षुब्ध हो गये थे। लेख के प्रकाशन में प्रकाशकजी ने कुछ गड़बड़ी जरूर करदी थी पर परवार-सभामें उसकी पूरी जिम्मेदारी मैंने अपने सिर पर ले ली क्योंकि लेख का लेखक मैं था और पत्रका सम्पादक भी मैं था। पर आश्चर्य है कि पंचों का सारा कोप प्रकाशकजी पर गिरता था क्योंकि वे सभा के वैतनिक कर्मचारी थे मैं समाज का नौकर ता था पर परवार समाजका नौकर नहीं था, इसलिये मुझसे कहते थे कि हम आप से कुछ नहीं कहना चाहते। इस से मैंने समझा कि समाज की नौकरी और सामाजिक क्रान्ति के काम एक साथ नहीं हो सकते। पीछे तो मेरे विचार इस विषय में इतने स्पष्ट हो गये कि जैसे सरकारी नौकर कौंसिलों आदि में प्रतिनिधि नहीं हो सकते न वोट दे सकते हैं उसी प्रकार जो लोग समाज की नौकरी करते हैं उन्हें प्रतिनिधि आदि न बनना चाहिये। स्वतंत्र विचार से जिन्हें रोटी छिनने का डर है वे समाज का नेतृत्व नहीं कर सकते इसका यह मतलब नहीं कि समाज में उनका स्थान नीचा समझा जाय, सरकार के बड़े बड़े अफसर वोट नहीं दे सकते इसका यह मतलब नहीं है कि उनका स्थान नीचा है। सिर्फ यही समझा जाता है कि उनकी परिस्थिति वोट देने लायक नहीं है। जबतक समाज नौकरी के काम में स्वतन्त्र विचारों के कारण हस्तक्षेप करना बन्द न करे तब तक समाज के वैतनिक

कार्यकर्ताओं के मत का ठीक प्रदर्शन नहीं हो सकता न उससे समाज को लाभ है न उन्हें। हां, वैतनिक कर्मचारी अगर समाज रुचि के प्रतिकूल सुधारक विचार प्रगट करता है तब तो उनका मूल्य है क्योंकि इसमें उसमें निःस्वार्थता और सत्यानुचरता मालूम होती है। अनुकूल विचारों में तो चापलूसी की ही अधिक सम्भावना है। परिस्थिति के कारण इसके लिये वह विवश भी है. इसलिये वह वकील बन सकता है निष्पक्ष साक्षी नहीं बन सकता।

खैर, जैन सभाओं में व्यवस्थित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था तो थी ही नहीं, उसका ढोंग था इसलिये प्रतिनिधित्व वाली सभाओं के गुण भी उनमें नहीं थे और न वह निर्भीक समाज-सुधारकों के संगठनरूप थीं जिससे समाज की गुलामी की जगह समाजहित किया जा सके इसलिये मैं उनकी तरफ़ से बिलकुल उदासीन हो गया।

परलोक-विद्या की बीमारी

इन्दौर में ही कुछ महीनों के लिये परलोक विद्या की बीमारी भी लगी। परलोकविद्या-विशारद वी. डी. ऋषि उस समय इतने प्रसिद्ध नहीं थे। अपनी दूकान चमकाने के लिये वे ग्राहकों और सहयोगियों की खोज में थे। मैंने कर्मवीर में जब उनका विज्ञापन पढ़ा और यह जाना कि वे इन्दौर में ही रहते हैं तब मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। उसी दिन शामको उनका घर ढूँढ़ते ढूँढ़ते जा पहुंचा। मृतात्माओं के चित्र आदि देखकर बहुत प्रभावित हुआ। उनका घर मेरे घर से करीब साढ़ेतीन मील था। प्लाञ्चेट के प्रयोग देखने के लिये मैं उनके घर प्रतिदिन शामको जाता था और रातको एक

बजे लौटता था । शुरू शुरू में तो मैं काफी प्रभावित हुआ पर धीरे धीरे ऋषि जी की चतुरता मेरे ध्यान में आने लगी । प्लाञ्चेट की तिपाई का जब एक पैर उठता था तब तिपाई पर रक्खे हुए ऋषिजी के हाथों की नसें फूलती थीं इसलिये गौर से देखने वाले को साफ मालूम हो सकता था कि तिपाई के पैर को ऋषि के हाथ एक तरफ जोर लगाकर उठा रहे हैं—कोई मृतात्मा नहीं ।

मृतात्माएँ जो बातें कहा करती थीं अर्थात् उनके नामसे ऋषिजी जो सुनाया करते थे वे कभी कभी ऐसी असम्बद्ध और तर्कविरुद्ध होती थीं कि विचारक आदमी अवश्य ही चौकन्ना हो जाय

कभी मृतात्माएं कहा करतीं कि यहां बहुत सूक्ष्म शरीर है हम क्षणभर में हजारों मील की यात्रा कर सकते हैं यहां बीमारी नहीं होती । पर कभी ऐसी भी मृतात्माएं आतीं जिन्हें सिरदर्द आदि की बीमारी होती थी । मैं कहता तुम्हारे शरीरमें रक्तमांस तो है ही नहीं फिर ये बीमारियाँ क्यों होती हैं? उत्तर कुछ नहीं । कभी कभी मृतात्माएँ कहतीं हम राजबाड़ा चौक से यहाँ तक (ऋषिजी के घर तक) चले आरहे हैं इसलिये थक गये हैं । इस प्रकार की असम्बद्ध बातों से मुझे पोल नजर आने लगी ।

एक दिन मैंने कहा कि किसी मृतक आत्मा से कहो कि वह हमारे हाथ से भी प्लाञ्चेट चलावे, बेनड़ी नामक एक आत्मा इसके लिये तैयार भी हुआ । पर हमने अपने साथ ऋषिजी को न बैठा कर भाई कमलकुमार जी को बिठलाया । आध घंटे तक पूरी एकाग्रता दिखाने पर भी प्लाञ्चेट न चली । लज्जित होने पर भी ऋषिजी बोले अभी आपको कुछ दिन साधना करने की और

ज़रूरत है मैं मुसकराया।

अन्त में एक दिन मैंने कहा कि हम पं. गोपाल दासजी वरैया की मृतात्मा से बातचीत करना चाहते हैं आप किसी मृतात्मा से कहिये कि वह पंडितजी की आत्मा को ढूंढ कर लाये। ऋषिजी ने बेनड़ी को ही नियुक्त किया। बेनड़ी ने सात दिन का समय माँगा जो दिया गया।

सातवें दिन अन्य दिनों की अपेक्षा मुझे बहुत उत्सुकता थी। बेनड़ी से जब पूछा गया तब उसने कहा-- पंडितजी उत्तम लोक में मिले। वे बड़ी मुश्किल से आये अभी इसी कमरे में हैं प्लाञ्चेट पर वे आपके साथ बात करेंगे।

बेनड़ी को विदा करके जब पंडितजी की आत्मा को बुलाया गया तो मैंने गोम्मटसार का एक प्रश्न रखकर उनका मत माँगा। ऋषिजी को ऐसी आशा नहीं थी। सातदिन तक वे मुझ से गोपालदासजी के विषय में कुछ न कुछ पूछते रहे थे पर मैंने उन्हें कुछ नहीं बताया था और गोम्मटसार के विषय में तो ऋषिजी जानते ही क्या थे, निदान पं. गोपालदासजी की आत्मा को कहना पड़ा कि अब हम बात नहीं करना चाहते। मैंने कहा—तब इतनी दूर आये क्यों ? उत्तर में 'नहीं', मैं जो भी कुछ कहूं उसके उत्तर में प्लाञ्चेट 'नहीं' पर जाकर ठहर जाय। इस प्रकार इस परीक्षा में भी ऋषिजी फिस्स हो गये। तब से मुझे भी परलोकविद्या की बीमारी न रही।

आश्चर्य है कि मृतात्मव्यवसायियों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी बन गया है, योरोप में इसके अधिवेशन भी हुए हैं।

और बहुत से भारतवासी, जो प्रत्येक गोरे चमड़े में वैज्ञानिकता का दर्शन करते हैं, मृतात्मा की कल्पना को विज्ञानसिद्ध समझते हैं। पर ये जादूगर की दूकानें हैं, भले ही कोई इनसे पैसा कमाता हो और कोई यश।

नाटक-कम्पनियों में

नाटक देखने का बाल्यावस्था से ही शौक था। यहाँ तक कि सागर पाठशालामें भी चोरी से रासलीलाएँ देखने चला जाता बनारस में हम पतिपत्नी काफी नाटक देखते थे। एक दिन विचार आया कि इन कम्पनियों को पैसा तो बहुत दिया कुछ इन से लेना भी चाहिये। इसलिये मैंने 'भारतोद्धार' नामक एक नाटक बनाया। इस समय इन्दोर में, पाटणकर-संगीत-मंडली नामक एक मराठी कम्पनी अपने खेल कर रही थी। मैंने अपने नाटक का एक अंक बनाकर उसे बताया उस के मालिक को वह बहुत पसन्द आया। बोला जल्दी पूरा कर दीजिये मैं इसे अवश्य खेलूंगा। मेरा उत्साह बढ़ा, मैंने पांच सात दिन में नाटक पूरा कर दिया और उसे बताया। उसने खूब पसन्द किया। तय हो गया कि दो चार दिन में कम्पनी अपने नटों को वह सिखायगी। कौनसा नट कौनसा पात्र बनेगा यह भी तय हो गया।

इधर एक प्रकाशक महोदय भी १००) में उसका प्रकाशन अधिकार माँगने लगे इस प्रकार मैं समझने लगा कि बस, लक्ष्मी तो छप्पर फोड़ कर कूदी और अब कूदी। पर लक्ष्मी अपढ़ों को भले ही वर ले, बेईमानों को भी वर ले, पर बेवकूफों को

नहीं करती उस के पाने के लिये कुछ लियाकत चाहिये । पर इस विषय में मैं काफी बुद्धू था इसलिये वह अवसर खोदिया।

एक मित्र, जिनने मेरी अपेक्षा काफी दुनिया देखी थी, बोले ऐसे नाटक के हजार रुपये से कम न लेना चाहिये और छापकर बेंचने से भी दो चार सौ रुपये सहज में मिल जायेंगे इस प्रकार उनने बहुत चढ़ाया। मैंने कम्पनी के मालिक से हजार रुपये की माँग की उसने दो सौ तक की बात चलाई और यह भी कहा कि छपाने का अधिकार आपके ही पास रहेगा पर मुझपर तो हजार का भूत सवार था, इस लिये सौदा टूट गया । कम्पनी चली गई। दूसरी बहुत कम्पनियाँ आईं पर सबने मुफ्त में ही नाटक हथियाने की कोशिश की किसीने एक भी पैसा न दिया। अब मुझे अपनी भूल समझ में आई पर अब तो अवसर-मूढ़ता का और सिर्फ पन्द्रह दिन परिश्रम करके हजार-दो-हजार रुपये पीट लेने की तृष्णा का दंड भोगना ही रह गया था। एक नाटक निकल जाता तो अन्य नाटक भी निकलते इस प्रकार जैन समाज की आर्थिक गुलामी छोड़ने की जो चिर-लालसा थी वह पूरी हो जाती । पर मेरी अवसर-मूढ़ता के कारण सारे स्वप्न हवा हो गये । और उसका पश्चात्ताप वर्षों बना रहा।

हाँ, इतना लाभ अवश्य हुआ कि बहुत-सी नाटक कम्पनियों के सम्पर्क में आया थोड़ा बहुत मजूरी सरीखा काम करके पच्चीस पचास रुपये कमाये भी, मुफ्त में खूब नाटक देखे, फर्स्ट क्लास और आरचेस्ट्रा आदि, न जाने क्या क्या नाम होते हैं, उनपर बैठकर

नाटक देख लिया, नहीं तो उन स्थानों पर बैठकर कब नाटक देखने का भाग्य था, इतना ही नहीं मंच और नेपथ्य में भी जा सकता था इसलिये नाटकों के नंगे रूप भी देखे, और नाटक-जगत् के निकट परिचय में रहकर मानव प्रकृति या दुरंगी दुनिया के नये नये अनुभव भी पाये। रुपया गिनने के लिये रुपयों की थैली तो न मिली इसलिये अनुभव की थैली में से अनुभव गिनने लगा। अमुक आदमी ने ऐसी बदमाशी की इससे यह अनुभव मिला, उसने इस प्रकार झूठ बोला इससे वह अनुभव मिला। इस प्रकार अनुभव गिन गिन कर रुपयों की गिनती की कमी पूरी करने लगा।

आज भी ठगे जाने पर ऐसी ही गिनती किया करता हूं। पर इन बातों में जैसी चाहिये वैसी अक्ल अभी तक नहीं आ पाई। कह लेता हूँ मेरा दिल दयालु और कोमल है पर इसकी अपेक्षा यह कहना ठीक होगा कि हृदय संकोची और निर्बल है। खैर, एक बार की अवसर-मूढ़ता ने जीवन भर के लिये इस मार्ग से निवृत्त कर दिया। सोचता हूं यह अच्छा ही हुआ नहीं तो नाटक कम्पनी से निकली हुई मेरे जीवन की गंगोत्री सिनेमा-सागर के किस तट पर गंगासागर बनाती यह कहना कठिन है। अब तो यही सोचता हूं कि जीवन का फूल किसी नर्तकी की वेणी में न गुथकर भगवान भगवती के पैरों पर चढ़ा दिया गया—यह सौभाग्य ही है। संभव है आर्थिक दृष्टि से कुछ अधिक अच्छा रहा होता पर धन पाकर भी धनी खोया होता।

रूढ़ि-विरोध

इन्दोर में ज्यों ज्यों मेरी सुधारकता पनपती जाती थी त्यों-त्यों सुधारको कार्य-परिणत करने की मेरी इच्छा बलवती होती जाती थी। कुटुम्बमें कोई नहीं था इसलिये और सुधारों को कार्यरूप में परिणत करने का अवसर ही नहीं था पर पत्नी के वेषभूषा में कुछ परिवर्तन करना, पर्दा हटाना स्वास्थ्य के लिये शामको घूमने ले जाना आदि सुधार कार्य-परिणत करना चाहता था। पर इसके लिये पत्नी से आग्रह कभी नहीं किया एक दिन गहनोंके लिये आग्रह किया पर उसका परिणाम अच्छा न हुआ इसलिये पत्नी के सामने सुधारक साहित्य रख कर और चर्चा करके सुधार की वाट देखने लगा। धीरे धीरे उसको मेरी बातें समझ में आने लगीं और परिवर्तन भी शुरू हुआ। गुजराती ढंग की वेषभूषा आने लगी। जाति की कुछ स्त्रियों ने टोका भी कि 'बाई, देश छोड़नापर भेष (वेष) न छोड़ना' पर पत्नी ने उसकी पर्वाह न की। इन्दोर में तो मारवाड़ी सभ्यता है जोकि वेषभूषा की दृष्टि से काफ़ी पिछड़ी हुई कही जासकती है। वहाँ स्त्रियों-स्त्रियों में भी पर्दा किया जाता है। एक दिन मैंने पत्नी से कहा कि घूँघट निकाल कर आज मेरे साथ घूमने चलो। शामको हम लोग घूमने निकले तब सब को बड़ा आश्चर्य हुआ। दस पन्द्रह दिन कुछ खुस-खुस फुस-फुस हुई। पर मैंने इसकी पर्वाह नहीं की, फल यह हुआ कि दूसरे लोग भी अपनी पत्नी को लेकर घूमने जाने लगे। मैंने अनुभव किया कि किसी बात को बकते रहने से ही काम नहीं होता उसे क्रिया-परिणत करना चाहिये। साधारण लोग ही नहीं बड़े बड़े सुधारक

विद्वान भी अनुकरणप्रिय होते हैं। ऐसे लोग सुधारकता का मूल्य तो कम करते ही हैं पर उसके मार्ग में रोड़े भी अटकाते हैं। बकना और अवसर आने पर पीछे हटना यह ऐसी कायरता है जो सुधार पथ में इतने बड़े रोड़े अटकाती है जितने सुधार का विरोधी भी नहीं अटका सकता।

खैर, इन्दोर में विपरीत परिस्थिति होने पर भी मेरी सुधारकता का सिञ्चन हुआ और धीरे धीरे वह कार्य परिणत भी होने लगी।

(१९) डायरी के कुछ पृष्ठ

डायरी मैं बहुत कम भरता था। कविताओं और लेखों के नोटों में ही डायरी भरी जाती थी, फिर भी कभी कभी दिल के उद्गार डायरी में लिखे गये हैं। उससे क्रम-विकास का तथा आंतरिक जीवन का कुछ विशेष परिचय मिल सकता है, इसलिये तारीखवार कुछ उपयोगी पृष्ठ यहां दिये जाते हैं। किन किन पुस्तकों या लेखों के पढ़ने से दिल पर क्या क्या प्रभाव पड़ता था ऐसी बातें भी प्रारम्भ की डायरियों में लिखी हुई हैं। उन पृष्ठों के पढ़ने से मालूम होता है कि साहित्य के वाचन ने ही मुझे पशुता से मनुष्यता की ओर खींचा है और विकास का अधिकांश श्रेय उसे ही है। सब पृष्ठों के उद्धृत करने में एक पोथा ही बनेगा, इसलिये इधर उधर के थोड़े पृष्ठ उद्धृत किये जाते हैं। विद्यार्थी अवस्था के पृष्ठ छोड़ दिये जाते हैं। डायरी के अधिकांश उद्गार किसी घटना से सम्बन्ध रखते रहे हैं पर खेद है कि वे

घटनाएं लिखीं नहीं गईं, न याद आ रही हैं।

बनारस ३ अप्रैल १९१९

आज हृदय में बड़ा दुःख रहा। ३३ करोड़ भारतवासी क्या कुछ नहीं कर सकते ? हमारी छाती पर दनादन गोलियां चलाईं जाँयँ और उस पर भी अत्याचार होते रहें ! नहीं मालूम अब क्या होने वाला है ! लेकिन भारत का यह खून भारत की स्वतन्त्रता का तिलक है। जिसका अभ्युत्थान होना होता है उसकी पूर्व पहिचान यही है......हमारे प्यारे देशभाइयों का जो खून हुआ है वही खून भारत से विदेशियों का मुँह काला करेगा।

दमोह १२ मई १९१९

भारत कितना समुन्नत था जिसको देखकर स्वर्ग के देवता भी सिर झुकाते थे, परन्तु आज उसकी सन्तान निःशस्त्रहस्त हो रही है और देश विदेशों में ठोकरें खाती फिरती है। महात्मा गांधी सरीखे दो चार आदमी अवश्य हैं जो देश के लिये कुछ करते हैं, पर हम सरीखे मूर्ख तो देखो, जिनने दो रोटियों के लिये जीवन बेच दिया है। धिक्कार है ! मेरे इस जीवन को। जैसा पाया जैसा न पाया।

दमोह २३ मई १९१९

मनुष्य को मानसिक वाचनिक बल के साथ शारीरिक बल भी बहुत उपार्जित करना चाहिये। यद्यपि यह सत्य है कि मानसिक बल के आगे शारीरिक बल किसी काम का नहीं तथापि शारीरिक बल से मानसिक बल में बड़ी सहायता मिलती है।

दमोह २४ मई १९१९.

आज मुझे इस बात का अनुभव हुआ है कि वास्तव में जितना सुख है वह सब स्वाधीन ही है। कोई कहे कि स्त्री-पुत्रादिकों से सुख मिल सकता है सो यह सब झूठ है। जैसे स्वार्थी हम हैं उसी तरह सारा संसार है। किसी जीव पर किसी जीव का अधिकार नहीं है। जिस मनुष्य को आज अच्छा समझते हो उसीको कल बुरा समझना पड़ता है और जिसको आज बुरा समझते हो उसीको कल अच्छा समझना पड़ता है, इससे ज्ञात होता है कि संसार के प्राणी न अच्छे हैं न बुरे। वे जैसे हैं सो हैं, अच्छा बुरा कहना हमारा भ्रम है इससे मुझे चाहिये कि अपने परिणाम न बिगाड़ूं और दुनिया के रंगढंग देखता हुआ चलूँ।

दमोह २५ मई १९१९

मनुष्य को जितनी सुख की सामग्री मिलती है वह उतना ही दुःखी होता जाता है। आज जिसके लिये मर रहा है कल उसीके मिलने से वह नीरस प्रतीत होने लगती है। इसके साथ इतना कष्ट अवश्य है कि यदि प्राप्त वस्तु का वियोग हो जावे तो भारी दुःख का अनुभव करना पड़ता है।

बनारस २ जुलाई १९१९.

मैं जहां तक विचारता हूं वहां तक मुझे यही पता पड़ता है कि मनुष्य को संतोष के समान और कुछ सुख नहीं है। यद्यपि इस बात को मैं बहुत दिन से शास्त्रों में सुनता चला आता हूं लेकिन विशेषतः इसका अनुभव मुझे आज ही हो रहा है। कोई

प्राणी किसी की आत्मा को पूर्ण सुखी नहीं बना सकता । इसमें कोई शक नहीं कि बहुतसी आत्माएँ ऐसी भी हैं जो प्राणपण से दूसरे की आत्माओं को सुखी बनाने की कोशिश करतीं हैं लेकिन वास्तव में वे उन्हें सुखी नहीं बना सकतीं किन्तु कभी कभी उन्हीं के द्वारा ऐसी घटना हो जाया करती है जो उस आत्मा को दुःखी बना देती है ।

बनारस २२ अगस्त १९१९

संसार में मनुष्य को सुख समागम बहुत दिनों तक नहीं रह सकता । यदि मनुष्य को धन जन आदि से परिपूर्ण सुख भी हुआ तथापि मनुष्य का हृदय ऐसा है कि उसमें एक न एक दुःख का अंकुर उग ही उठता है ।

बनारस ९ सितम्बर १९१९

क्या संसार में सचमुच अन्याय का राज्य हो गया है ? भारतवर्ष को दूसरे देश के लोग इसतरह घृणासे देखते हैं कि जैसे हमारे यहां लोग भंगी चमारों को देखते हैं और इसका कारण परतन्त्रता ही बतलाते हैं । अमेरिका के लोगों का कहना है कि भारत ३० करोड़ आदमियों के रहते हुए भी छोटी सी अंग्रेजी सेना के वश में है भारत जैसा नामर्द कोई नहीं माल्हम होता…………।

बनारस ९ नवम्बर १९१९

आज जब मैं भोजन करके उठा तब मेरे हृदय में बहुत अच्छे विचार आये जिससे यही इच्छा होती थी कि सर्वस्व

जावे पर ये विचार न जावें ।·······घर से हटकर जंगल में अकेले बैठना, दुनिया के झगड़ों से बचे रहना जितना सुखकर है उतना धन आदि कोई सामग्री नहीं है। किन्तु इस समय भी मेरे विचार सकलंक हैं क्योंकि उनके भीतर भी यश की इच्छा घुसी है। यद्यपि यह काम यश के लिये नहीं है तथापि हृदयमें यश की वासना बनी हुई है यही हृदय का कलंक है और इसका छूटना कठिन है। देखें कब इसमें कृतकार्य हो पाता हूँ।

बनारस २७ नवम्बर १९१९

कभी कभी ऐसी वीतरागता आ जाती है कि ऐसा लगता है कि इस देह से शीघ्र पिंड छूटे और ऐसी जगह जन्मूँ जहाँ मुझे उत्तमोत्तम मुनियों का सम्बन्ध मिले जैसे विदेह । अब मुझे अपना ही शरीर भारी मालूम होने लगा है। मुझे नहीं मालूम मेरी जीवन नौका किधर जायगी?

बनारस २ जनवरी १९२०

यदि हमने यश भी प्राप्त कर लिया तो भी इससे आत्मा का सुधार क्या हुआ? यह केवल वासना ही है। इसे संकल्पस्वरूप परिणित कर लूं तो भी कुछ कल्याण नहीं है।

बनारस ३ जनवरी १९२०

मनुष्य कितना ही छोटा क्यों न हो यदि वह दृढ़ संकल्प करले तो संसार को बता सकता है कि छोटा मनुष्य भी कितना समुन्नत हो सकता है? यदि मनुष्य को गिरानेवाली कोई वस्तु है तो अनुत्साह है अथवा आत्मशक्ति का अज्ञान मनुष्य

को गिरा सकता है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने को सदा बलवान समझने की कोशिश करे। ऐसा समझने से वह बहुत काम कर सकता है।

बनारस ५ जनवरी १९२०

मनुष्य की इच्छाशक्ति बड़ी प्रबल है। वह तीन तरह की होती है। सात्विक —जिसका दृष्टान्त महावीर बुद्ध हैं। राजस जिसका दृष्टान्त प्रताप। तामस जिसका दृष्टान्त चाणक्य है। इसमें पहिली उपादेय है दूसरी भी उपादेय पर पीछे सात्विकता होना चाहिये। तीसरी बिलकुल हेय है। किन्तु मनुष्य को इच्छा शक्ति वाला अवश्य बनना चाहिये।

बनारस ११ जनवरी १९२०

मनुष्य बड़ी जगह रहके बड़ा कहलाता है परन्तु मेरा विचार है कि मैं जहां रहूं वह स्थान ही बड़ा कहला जावे। देखें यह इच्छा कबतक और कैसे पूर्ण होती है? जो भी कुछ हो इस के लिये प्रयत्न तो अवश्य करता जाऊंगा।

बनारस १२ जनवरी १९२०

हमारी जाति समुन्नत हो तो कैसे हो? देखता हूं अभी सब आदमी लकीर के फकीर हैं–पुरानी चाल जो थी वह रहना चाहिये चाहे वह दुःखद और धर्मविरुद्ध ही क्यों न हो और नई रीति न रहनी चाहिये चाहे वह अच्छी ही क्यों न हो।

बनारस १६ जनवरी १९२०

मैं समझता था समय न मिलने से काम नहीं कर पाता

हूँ किन्तु अब समझा जो कर्तव्य-शील होते हैं उनके काम कितने ही क्यों न हो सब को समय मिल जाता है।·······

बनारस १७ जनवरी १९२०

मनुष्य कभी किसी को अच्छा कभी किसी को बुरा समझने लगता है। यह आत्मस्वभाव न होने पर भी स्वभाव-सा हो रहा है। जो मनुष्य हमको बुरा मालूम पड़ता है यदि उससे हमारा कोई स्वार्थसिद्ध हो जाता है तो वही अच्छा लगने लगता है। स्वार्थ की महिमा अनुपम है।

बनारस १९ जनवरी १९२०

मेरा चित्त गम्भीर नहीं है, बाहर दिखलाने को चाहे भले ही रहे, किन्तु भीतर पोल ही पोल है। प्रफुल्लित चित्त भी थोड़ी सी बात का निमित्त पाकर अग्नि बन जाता है। यह हृदय की नीचता नहीं तो क्या है?

शाहपुर ७ फरवरी १९२०

अरसिक होकर के क्यों, वृथा भ्रमर को कलङ्क देते हो।
सरस सुमन यदि होगा, तो रस ग्राहक अवश्य आवेंगे॥

अकलतरा २७ फरवरी १९२०

मनुष्य कैसा ही क्यों न हो जबतक उसके पास धन न हो तबतक वह इस काल की अपेक्षा बलवान नहीं कहला सकता। धन के बिना विद्वान मूर्ख है, निरोगी रोगी है और गुणी दोषी है। धन न रख कर संसार में अपनी आवश्यकता पूर्ण करना कठिन है, इसके लिये पराधीन होना पड़ता है और जहां पराधीनता है

वहां महादु:ख है, स्वाभिमान बेचना पड़ता है । जिसका फल यह होता है कि कोई कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो वह अपने वचन का असर किसी दूसरी आत्मा पर नहीं डाल सकता ।

विद्वान होकर भी जो मनुष्य स्वतन्त्रवृत्ति नहीं है उसको थोड़ा नहीं बहुत दबना पड़ता है ।····पिंजड़े में फँसा हुआ शेर जैसे दुःखी होता है वही दशा उस बेचारे पंडित की होती है । इसलिये मुझ सरीखे स्वाभिमानी मनुष्य को स्वतंत्र-वृत्ति होना योग्य है; क्योंकि ऐसा न होने से कुत्ते भी मुझे धमकियाँ दिखलाते हैं और मुझे दूसरों के मुँह की तरफ झूँकना पड़ता है । यदि सहसा अधिक कुछ नहीं हो सकता तो कम से कम ऐसी प्रतिज्ञा अवश्य ले लेना चाहिये कि उन्मत्त धनियों की संगति कभी न करूँ । क्योंकि इन लोगों के द्वारा किया गया अपमान इतना गहरा होता है कि चोट दिखती नहीं पर तन सूख जाता है........ ।

सिवनी ६ मार्च १९२०

जिस समय मैं बनारस से चला था उससमय मुझे ज्ञात होता था कि बनारस खट्टा है और सिवनी तो मिश्री की डली है । परन्तु हाय रे ! मनुष्य का हृदय, तू उसी सिवनी को खट्टी कह रहा है । और बनारस का चिंतवन करके तन्मय हुआ जाता है । यह एक तेरी चंचलता का नमूना है । इससे यह बात स्पष्ट है कि संसार में कोई वस्तु न अच्छी है न बुरी है । अच्छा या बुरा है मनुष्य का हृदय । जैसी वह कल्पना करता है वैसा ही

संसार अच्छा या बुरा मालूम पड़ने लगता है । मैं नई नई लालसाओं को बढ़ाता हूँ और पूर्ण होने पर पछताता हूँ । जैसे वेश्या एक को पाकर दूसरे की लालसा करती है वैसी ही दशा मेरे मन की हो रही है ।

इन्दोर १ जनवरी १९२१

वास्तव में जो विद्या परोपकार के लिये थी उसीसे मैं अपना पेट भर रहा हूं, वैश्यपुत्र होकर इससे बढ़कर क्षुद्र बात और क्या होगी ?

इन्दोर ४ जनवरी १९२२

····शक्ति के सामने सब कोई झुकते हैं, अपने से अधिक शक्ति के आ पहुँचने पर सब कोई दब जाता है । आज यह देखा । लेकिन निरपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ? जिसको धन आदि की चाह नहीं ऐसा पुरुष राजाओं की सेवा क्यों करेगा ? इसलिये यदि संसार में बड़ा बनना है तो निरपेक्ष-वृत्ति बनने की चेष्टा करना चाहिये ।

इन्दोर ५ जनवरी १९२३

मनुष्य में सब कुछ आ जाता है पर स्वदोषनिरीक्षण नामक गुण मिलना बहुत कठिन है । अगर यह गुण मनुष्य में आ जाय तो झगड़े की जड़ ही मिट जाय । परन्तु मनुष्य-हृदय इतना दुर्बल है कि वह इस बात को नहीं कर सकता ।

ललितपुर २२ जनवरी १९२३

मेरे विचार बहुत विस्तीर्ण और कुछ स्त्री-स्वातन्त्र्य के

पक्षपाती हैं। मैं पर्दा-प्रथा का कट्टर शत्रु हूँ, परस्पर जातियों में विवाह कराना चाहता हूँ, ढोंग दस्तूरों को बिलकुल उड़ाना चाहता हूँ। 'जैनधर्म के असली सिद्धांत सार्वकालिक हैं बाकी सामयिक' यह भी मानता हूँ, इसलिये मुझे सब लोग नास्तिक समझते हैं। जिस दिन मैं जैनियों की नौकरी छोड़ दूँगा उसी दिन इन बातों का प्रचार करूंगा।

इन्दौर २२ जुलाई १९२३

हम दुनिया को तो दोष देते हैं मगर हम खुद नीच हैं और समय समय पर नीचता का परिचय भी दिया करते हैं। यदि हम आज एक अबला (विधवा) की रक्षा न कर सके तो हमारे जीवन से क्या लाभ ? माना कि हमारे हृदय में दया थी लेकिन इससे क्या ? जब हम वह काम में न लाये और लाने के समय को टाला। आजकल विधवाओं की बड़ी दुर्दशा है वे अमंगल रूप समझीं जातीं हैं जो वास्तव में मंगलस्वरूपा हैं उन अनाथिनियों का इतना अपमान किया जाता है कि वे बेचारी घबराकर धर्मभ्रष्ट हो जातीं हैं, व्यभिचारिणी हो जातीं हैं, वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लेतीं हैं। पुरुष तो अपने दस दस विवाह करें मगर उन बेचारियों को पुनर्विवाह करने में भी पाप माना जाता है यह कितना अन्धेर है ? सचमुच भारतवर्ष बहुत असभ्य बना हुआ है।

इन्दौर २६ सितम्बर १९२३

मैंने अच्छी तरह विचार कर निश्चित कर लिया है कि

वर्णव्यवस्था जैनियों को ही क्या भारतवर्ष मात्र को अनावश्यक ही नहीं—नाशक है जैनियों में परवार आदि जो जुदी जुदी जातियाँ हैं उनके रहने की कोई आवश्यकता नहीं है । अगर रहें तो बनीं रहें मगर सब में बेटी-व्यवहार तक हो जाना चाहिये बस, फिर इनसे कुछ हानि नहीं । सच बात तो यह है कि वर्ण-व्यवस्था लुप्त हो चुकी है अगर क्षत्रिय वैश्य या शूद्र ब्राह्मण का कार्य करे तो क़ानून से उन्हें कोई नहीं रोक सकता इसलिये वर्णों की वृत्ति तो बदल गई है जोकि वर्णव्यवस्था की जान है । अब तो वर्णव्यवस्था का मुर्दा रह गया है जो कि दुर्गंध देने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकता । लोगों का रूढ़िप्रेम इतना मजबूत है कि अपने मूर्खतापूर्ण विचारों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकते । वे, और उन्हीं सरीखे अंधश्रद्धालु पंडित-नामधारी जीव विशेष, गालियाँ देकर धमकाकर सुव्यवस्थापूर्ण व्यक्ति-स्वातंत्र्य का डंका पीटनेवालों का विरोध करना चाहते हैं । खैर मुझे इस बात का डर नहीं है, मैं इन विचारों का प्रचार करूंगा ही और इस जोर से करूंगा कि दस वर्ष में ही विजातीय विवाह आदर्श विवाहों में शामिल किया जा सकेगा। अभी एक पत्र आया है कि 'समाज को कार्य करने दो विजातीय विवाह का प्रश्न छेड़कर फूट क्यों डालते हो' मगर इस तरह समाज सदा गड्ढे में पड़ी रहेगी । जब तुम्हें समाज में नई रीतियों का लाना युक्तियुक्त नहीं जँचता तब उन्नति क्या खाक करोगे ? आचार्यों के वचनों पर क्यों मरे जाते हो वे मनुष्य (छद्मस्थ) थे--त्रिकालज्ञ न थे । उनके कार्य उस समय के लिये ठीक हो सकते हैं मगर हम आज

इन्दोर २५ सितम्बर १९२५

मेरे साथियों का मुझ से कहना है कि 'हम लोगों की अपेक्षा आपने बहुत उन्नति की है' थोड़ी देर के लिये मैं इस बात को मानलेता हूँ लेकिन मेरा यही विचार है कि इस जीवन में दो तीन बातों की कमी से मुझे बहुत अवनत हो कर रहना पड़ा है....... इसलिये कभी कभी यह विचार आता है कि यह जन्म जैसे तैसे समाप्त हो जाय फिर सम्भवतः दूसरे जीवन में कुछ काम कर सकूं। लेकिन विचारने से मालूम होता है कि जो इतनी सामग्री में कुछ नहीं कर सकता वह अकर्मण्य आगामी जीवन में भी क्या कर सकता है?.......

इन थोड़े से पृष्ठों से पता लगता है कि किस प्रकार अच्छे बुरे, समझदारी या पागलपन से भरे हुए विचारों के सागर में गोते लगाते हुए अशान्त जीवन बिताया है वर्तमान परिस्थिति से असन्तोष और उछलकर कुछ तीव्र गति से आगे बढ़ने की लालसा सदा बनी रही है, पर उन विचारों के अनुसार जीवन न बना सका उस मार्ग में कुछ बढ़ा तो अवश्य पर बहुत कम, दस दस वर्ष तक विचार भीतर ही भीतर सड़ते रहे और फूँक फूँक कर पैर रखने के समान धीरे धीरे प्रगट हुए। फिर भी लोगों ने यही कहा कि मैंने विचारों के प्रकाशित करने में उतावली की है।

सन् २५ से मैं कुछ प्रचण्ड आंदोलक बन गया इसलिये डायरी बहुत कम भर पाया, बहुत से विचार तो जैन-धर्म-मीमांसा आदि से प्रगट हो गये हैं फिर भी जो चीज़ पाठकों के सामने रखने लायक मिलेगी—रख दी जायगी।

(२०) विजतीय--विवाह--आंदोलन

एकदिन अकस्मात् दिल्ली के लाला जौहरीमलजी सर्राफ का एक पत्र मिला जिसमें लिखा था कि "मैंने ब्र. शीतलप्रसादजी से विजातीय विवाह पर ट्रेक्ट लिखने को कहा था उनने आपका नाम सुझाया है इसलिये आप कृपाकर एक ट्रेक्ट लिख दीजिये।'

आन्दोलक बनने के लिये कोई नया आन्दोलन खड़ा करने की रुचि मुझमें नहीं रही। मैंने आन्दोलन खड़ा किया है तो या तो उसमें किसी की प्रेरणा निमित्त बनी है या किसी का विरोध। प्रेरणा से मैं गौरव अनुभव करता और कुछ करने लगता और विरोध से मेरा अभिमान जग पड़ता इसलिये कुछ करने लगता। अगर ये दोनों निमित्त न मिलते तो नहीं मालूम मेरे ऊपर लादी हुई पंडिताई का बोझ किस काम आता?

खैर, लाला जौहरीमलजी की प्रेरणा से एक ट्रेक्ट लिखकर मैंने भेजदिया। पर मेरे अक्षर खराब होने से वह कई महिने तक प्रकाशित ही नहीं हुआ और मुझे तो कोई पर्वाह नहीं थी। ट्रेक्ट लिखकर छुट्टी लेली।

कुछ महीने बाद जब मैं पर्युषण में सहारनपुर शास्त्र पढ़ने के लिये गया और दिल्ली ठहरा तब जौहरीमलजी ने वह ट्रेक्ट प्रेस में देदिया। छपने के बाद जैनमित्र में प्रकाशनार्थ गया, वहां वह पूरा का पूरा ट्रेक्ट छाप दिया गया। बस दि. जैन समाज में मानों तूफान आगया।

जैनगज़ट आदि में विरोधी लेख निकलने लगे। विरोध में ऊंचे से ऊंचे पंडितोंने भाग लिया और मैं उन सब का उत्तर देने लगा। लोगों को और मुझे भी उत्तर कुछ जोरदार मालूम हुए इसलिये मेरा खूब उत्साह बढ़ा और सब विद्वान तो एक ही एकबार के उत्तर में चुप होगये पर एक विद्वान अवश्य एक वर्ष से ऊपर लिखते रहे और दोनों के बीच में कई दर्जन लेख लिखे गये। उनके चुप होनेपर विजातीय विवाह के सिद्धान्त पर एक तरह से प्रामाणिकता की छाप लगगई।

विरोध में लिखनेवाले विद्वानों की संख्या काफी थी और उनके पत्र भी बहुत थे और मेरे पास सिर्फ एक ही पत्र था इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि विरोधी विद्वान आपस में ही एक दूसरे के विरुद्ध लिख जाते थे जब कि मेरे पक्षमें मैं ही लेखक था इसलिये परस्पर विरोध की नौबत न आती थी।

मेरे सहपाठी मित्र पं. कुँवरलालजी अवश्य लिखने में कभी कभी मेरा साथ दिया करते थे पर वे अपने लेख पहिले मेरे पास भेज दिया करते थे। इन दिनों मेरा परिश्रम काफी बढ़ गया था पर प्रसिद्धि की धुन में उसकी कुछ भी पर्वाह न करता था। सफलता दिन दूना उत्साह बढ़ाती थी।

चर्चा शुरू होने के कुछ महिने बाद विरोधियों को जब पता लगने लगा कि चर्चा में पार पाना कठिन है तब उनने दूसरी आवाज यह लगाई कि इस तरह चर्चा करने से क्या होता है समाज तो दो कौड़ी में भी इन बातों को न पूछेगी। इसका तार्किक उत्तर तो मैंने तुरन्त दे ही दिया पर मेरा ध्यान इस तरफ गया कि

सचमुच इस तरह इस चर्चा से कागज़ काले ही होंगे । समाज में जबतक विचार-क्रांति न हो तबतक पंडितों से झगड़ना निष्फल ही रहेगा इसलिये एक तरफ जब मैं विरोधियों का उत्तर देता रहा तब दूसरी तरफ समाज के विद्वानों, श्रीमानों तथा अन्य सज्जनों की सम्मति छपाने लगा । इसके लिये मुझे खूब परिश्रम करना पड़ता था । विजातीय विवाह पर सम्मति माँगने के लिये जो मैं विद्वानों तथा श्रीमानों या मित्रों के पास पत्र भेजता था उसमें विजातीय विवाह के पक्ष में जो संक्षेप में कहा जा सकता है वह सब लिखता इस प्रकार वह लम्बा पत्र एक छोटा-सा लेख बन जाता था । इस प्रकार के कुछ पत्र मैं प्रायः प्रतिदिन लिखा करता था । कंजूस इतना था कि यह न हुआ कि इतनी महनत प्रतिदिन करता हूँ इसके बदले में विजातीय विवाह पर संक्षेप में पूरा प्रकाश डालने वाला एक मजमून छपा लूँ और सबके पास भेजा करूँ । इसका एक कारण तो यह था ही कि हस्तलिखित पत्र को लोग जितने ध्यान से पढ़ते हैं उतने ध्यान से छपेहुए पत्र को नहीं पढ़ते, पर दूसरा कारण मेरी कंजूसी था । मैं सोचा करता था कि मैं इतनी महनत खर्च करता हूँ और पोस्टेज भी लगाता हूँ और अब छपाऊं भी मैं ही ! दूसरा कोई श्रद्धापूर्वक मुझे क्यों न दे दे ? पैतृक संस्कार हों या ब्राम्हणों के संसर्ग से हो, ऐसी कंजूसी आ गई थी । थोड़े थोड़े पैसों का भी बड़ा खयाल करता था । यों खाने-पीने में इतना कंजूस नहीं था, नाटक-सिनेमा में भी साधारणतः ठीक ही खर्च कर देता था फिर भी उदारता नहीं थी ।

अनुभवने बताया कि जो लोग विलासी हैं या हजारों रुपये दान भी कर देते हैं उनमें भी कंजूस पाये जाते हैं । विलास तो मोह का एक रूप है और बहुतों का दान भी एक तरह का लेन-देन है इससे उदारता का परिचय नहीं मिलता । जो जितने अंशों में विनिमय को गौण करता है और फिर कुछ जनहित के लिये देता है वह उतने अंश में उदार है । पर मुझमें यह उदारता न थी-बल्कि प्रच्छन्न भिक्षुकता थी । मैं किसी से कुछ माँग नहीं सकता था इसका कारण निर्लोभता नहीं किन्तु अहंकार था । मनमें सोचता-बिना माँगे ही लोग मुझे क्यों नहीं देते ? यह पाप आम-तौर पर विद्वानों में पाया जाता है यही कारण है कि आज सरस्वती को लक्ष्मी की दासी बनना पड़ रहा है ।

खैर, भाग्य से वर्धा के श्री चिरंजीलालजी बड़जात्याने विजातीय विवाह पर कुछ फार्म छपवादिये जिन्हें भेजकर मैं सम्मति लेने लगा । लिखित फार्म तैयार करके भेजने तथा अन्य पत्रव्यवहार में तथा वर्धा से इन्दोर आने के पोस्टेज में जितना खर्च हुआ सम्भवतः उतने में इन्दोर में ही फार्म छप सकते थे । पर कंजूस आदमी ऐसा विचार नहीं करता—वह तो अपनी थैली देखा करता है ।

खैर, सम्मतियों में खूब सफलता मिलने लगी । पत्रव्यवहार के परिश्रम का फल यह हुआ कि करीब तीन दर्जन विद्वानों की सम्मतियाँ मेरे पक्षमें आगईं जब कि विरोधी विद्वान एक दर्जन के करीब ही थे । सम्मतियाँ विद्वानों तक ही सीमित न रहीं किन्तु और भी सैकड़ों सज्जनों की सम्मतियाँ आईं इसके बाद पंचायती प्रस्ताव भी मेरे पक्षमें आने लगे । अब फिर विरोध पक्ष

की चिन्ता बढ़ी क्योंकि पंचायतों का तथा जनसाधारण का मेरे पक्षमें आना सफलता की गहरी छाप लगजाना था। इसलिये विरोधियोंने यह सोचा कि किसी तरह मेरी आजीविका छुड़ाई जाय तो मेरी अक्ल ठिकाने आजायगी। और वे लोग इसी बात को लेकर आन्दोलन करने लगे। सेठ हुकुमचन्दजी आदि पर भी इस बात पर जोर डाला जाने लगा। पर सेठ हुकुमचन्दजी भी मेरे पक्षमें थे या होगये थे इसलिये उनने ध्यान न दिया।

इसी समय तिलोकचन्द हाइस्कल के संचालक ने मुझसे हाइस्कूल में अध्यापक हो जाने के लिये कहा। मैंने भी सोचा—संस्कृत विद्यालयपर विरोधियों का अधिक दबाव पड़ सकता है इसलिये हाइस्कूल चला जाऊं तो अच्छा ही है पर फिर सोचा कि इस विषयमें सेठ हुकुमचन्दजी से सलाह लेलेना चाहिये। इसलिये मैं उनके पास गया। जब मैंने अपना इरादा बताया तो वे चकित होकर बोले—यह क्या कहते हो आप ? मेरे रहते ये लोग आपका क्या कर सकते हैं ? आप बिलकुल निश्चित रहिये, मैं इन सब को देख लूँगा आदि। इसके बाद उनने विजातीय विवाह का खूब समर्थन किया। इस तरह निश्चित होकर मैं चलने लगा और दस पांच कदम चला भी कि सेठजी ने फिर बुलाया और कहा—देखिये, आप बिलकुल निश्चिन्त रहिये, ये लोग आपका कुछ नहीं कर सकते आप निश्चिन्तता से काम कीजिये, डटकर आन्दोलन कीजिये। फिर मैं चला। अब की बार आधे ज़ीने तक आगया कि सेठजीने फिर बुलाया और फिर निश्चित रहने की बात कही और कहा—आपको

विद्यालय किसी भी हालत में अलग नहीं कर सकता। खैर, अब मैं काफी निश्चिन्त होगया और तिलोकचन्द हाइस्कूलवालों को कहदिया कि अब मैं हुकुमचन्द विद्यालय में ही काम करूंगा।

खैर, पर्युषण के दिन आये। मुझे दिल्लीवालों ने निमन्त्रण दिया और इधर इन्दोर में मेरे विरोधी विद्वानों का आगमन हुआ। इन्दोर में उन विद्वानों से जमकर चर्चा हो इसलिये कुछ जी तो ललचाया पर दिल्लीवालों को स्वीकारता दे चुका था और वहां के जैन समाज में इस विषय में खूब चहलपहल भी मचगई थी। मेरे समर्थकों ने चर्चा के लिये खुली चुनौती दे रक्खी थी इसलिये दिल्ली जाना जरूरी था।

यह दिल्ली जाना मेरे क्षुद्र जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसीसे मुझे अपनी सहिष्णुता आदि का परिचय मिला, दिल्ली में जो कुछ हुआ इसका वर्णन विस्तार से डायरीमें लिखा है। यहां उसका सार देदिया जाता है।

इन्दोर से दिल्ली के लिये निकला कि कुछ कुछ तबियत खराब हो गई। रतलाम में आधी रातसे तबियत और खराब हो गई, सुबह एक पर एक वमन होने लगे, दिन भर में करीब २५ से ऊपर वमन हुए। इसलिये दिल्ली को बीमारी का तार दिया, रात में वमन कुछ कम हुए पर शरीर एकदम शिथिल हो गया। इच्छा हुई कि कल इन्दोर लौट चलूं, वहाँ भी पं.........जी से भिडने का अच्छा अवसर है पर फिर सोचा कि दिल्ली के चैलेंज का क्या होगा? इसलिये हर तरह दिल्ली पहुँचना ही तय किया। रात भर तबियत कुछ ठीक रही थी इसलिये सुबह मेल से जाना

तय किया था कि उसके पहिले हरे हरे रंग के कई वमन हुए इसलिये फिर रुकना पड़ा। दिन के १२ बजे वमन बन्द हुए इसलिये दो बजे की गाड़ीसे रवाना हो गया और तार भी दिला दिया।

देहली पहुंचा कि समाज में हलचल मच गई। शास्त्रसभा में खूब भीड़ होने लगी। विरोधी लोगों के मुँह से भी निकलने लगा कि विचार चाहे जैसे हों लेकिन विद्वत्ता में सन्देह नहीं। दूसरे दिन से मेरे डेरे पर बहुत से लोग आने लगे और विरोधियों के दूत भी। विरोधी इसलिये आते थे कि मेरी युक्तियाँ ले जाकर अपने दल के पंडित को विचार की सामग्री दें। मेरे मित्रों ने चेतावनी भी दी पर मैंने कहा इन युक्तियों से वे सँभलेंगे तो क्या, किंतु ठण्डे पड़ जाँयँगे। हुआ भी ऐसा ही।

एक दिन मेरा यहाँ व्याख्यान भी रक्खा गया। उसमें मैंने जैनधर्म की उदारता बतलाते हुए कहा था कि जैनी बनने का हरएक को हक है चाहे वह भंगी, चमार या पशु ही क्यों न हो। जैनशास्त्रों से इस बात को प्रमाणित भी किया।

कुछ दिन बाद विजातीयविवाह के समर्थन में मेरा व्याख्यान रक्खा गया। जिस दिन इस व्याख्यान का नोटिस बँटा उसी दिन से काफी क्षोभ होने लगा। व्याख्यान को रोकने की काफी कोशिश की गई। दिनमें मुझे कुछ विरोधियों ने धमकी भी दी। व्याख्यान के पहिले इमारत को ताला लगादिया गया। मेरे मित्रों ने उसे किसी तरह हटाया या तोड़ा। पर इस परिस्थिति को देखकर मेरे बहुत सहयोगियों को अनुपस्थित रहने के लिये बीमार बन जाना

पड़ा। फिर भी व्याख्यान का कार्यक्रम मैंने न रोका। अन्त में जब कुछ उपाय काम न आया तब विरोधी लोग सैकड़ों की तादाद में चिल्लाते हुए आये और व्याख्यान के चौक में बैठकर शोर मचाने लगे। कहने लगे—देखें आज कैसे व्याख्यान होता है, मारेंगे मर जायेंगे पर व्याख्यान न होने देंगे।

कुछ लोग आये बोले—अब व्याख्यान नहीं हो सकता, लोग ऊधम मचायेंगे—असभ्यता करेंगे। मैंने कहा— चिन्ता नहीं, मैं गालियाँ सहलूँगा, धक्के सहलूँगा, मारपीट करेंगे तो वह भी सहजाऊंगा पर जाऊंगा अवश्य। मामला टेढ़ा तो अवश्य था पर मैं गया। लोगोंने शोर मचाना तथा बकना शुरू किया पर पांचसात मिनिट के बाद उन्हें चुप रहना पड़ता कि सभा का कार्य शुरू किया जाता और फिर लोग चिल्लाते। इस प्रकार चलता रहा। फिर मैंने कहा कि आप लोग इतने डरते हैं कि मेरा व्याख्यान सुन लेने से ही समझते हैं कि आपका सम्यग्दर्शन बह जायगा। यदि ऐसा है तो आप लोग अपने दलके अच्छे पंडितों को बुलाकर अपना सम्यक्त्व सुरक्षित रखकर मेरे विचारों को पछाड़ते क्यों नहीं हैं? इस प्रकार बीच बीच में मैं या मेरी तरफ से मेरे मित्र चुनौतियाँ देते रहे और लोग चिल्लाते रहे। एकाध उत्साही भाई ने मुझे गोली मारने की धमकी दी। पीछे एक भाईने मेरे ठहरने के स्थान का दरवाज़ा बाहर से बन्द कर दिया कि मैं निकलकर बाहर व्याख्यान न देने लगूँ।

जब काफी समय होगया तब कुछ सज्जनों ने मुझसे कहा-- साहिब! आज तो व्याख्यान यहां हो नहीं सकता, यहां सब समय नष्ट किया जाय इसकी अपेक्षा यही अच्छा है कि आप डेरे पर

चलें, वहां पचास आदमी तो बैठ ही सकते हैं उन्हें आप व्याख्यान सुनावें। मुझे भी यह बात जँची। अन्तमें डेरे पर करीब पचास आदमियों के सामने विजातीय विवाह पर व्याख्यान हुए। यहां कछ नरम विरोधी भी आगये थे जिनका विरोध करीब २ नष्ट होगया और वे मेरे समर्थक होगये।

एकदिन पानीपत भी गया, वहां के व्याख्यान से लोग इतने खुश हुए कि उनने आग्रह किया कि आप यहीं जैन हाइस्कूल में अध्यापक होजायें। मैं इन्दोर से मन ही मन कुछ ऊब गया था इसलिये मैंने पानीपतवालों को स्वीकारता देदी और बातों ही बातों में यह तय होगया कि मैं दिवाली के पहिले पानीपत आजाऊंगा। यहां इन्दोर की अपेक्षा सुधारकों की संख्या कुछ अधिक थी।

दिल्ली से शानदार विदाई हुई। बड़ी रात तक लोग प्लेटफार्म पर मेरी तारीफ में कविताएं पढ़ते रहे और गाड़ी छूटने पर उनने फूलों की वर्षा से (जिनमें चांदी के फूल भी बहुत थे) डब्बा भर दिया। जब गाड़ी चली तब मुझे अनुभव हुआ कि मेरी हिम्मत अब काफी बढ़ गई है और मैं विरोध की हर परिस्थिति का सामना कर सकता हूँ।

वहां से आगरा आया। यहां भी मेरे व्याख्यान का नोटिस बँटा और तूफान के आसार नजर आने लगे। व्याख्यान तो रात को था पर दिनको ही लोग झगड़ने के लिये आये। पर व्याख्यान के प्रबन्धक मजबूत थे इसलिये कुछ कर न सके। शामको व्याख्यान हुआ। मुझे व्याख्यान और शंका-समाधान के लिये लगातार साढ़े तीन घंटे तक खड़ा रहना पड़ा। मैंने कह दिया था कि जब

तक सबका समाधान न कर दूंगा तब तक खड़ा ही रहूंगा चाहे सवेरा ही क्यों न होजाय। साढ़े तीन घंटे के बाद विरोधी निरुत्तर होगये और सभा समाप्त हुई, मेरा उत्साह और साहस और भी बढ़ा।

पर जब इन्दौर आया तो फाटक के भीतर आते ही मालूम हुआ कि सेठजीने विजातीयविवाह के आन्दोलन के कारण मुझे विद्यालय से अलग करने का निश्चय कर लिया है।

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। अभी कुछ दिन पहिले ही जिन सेठजी ने मुझे तीन तीन बार जोर देकर आश्वासन दिया था, क्या ये वे ही सेठजी हैं? एक करोड़पति आदमी के वचनों का इतना कम मूल्य हो सकता है– इसकी कल्पना ही शर्मनाक मालूम हुई।

मेरे सुनने में आया कि सेठजी ने मेरे पक्ष में काफी जोर लगाया था पर विरोधी विद्वानों का जो दल आया था उसने सारी पंचायत को बहकाकर काफी क्षोभ मचाया और अन्त में सेठजी को दब जाना पड़ा। पहिले तो सत्य के लिये यह दबना ही व्यर्थ था और अगर दबे भी थे तो अपनी वचन-रक्षा का कुछ दूसरा इन्तजाम करना था। जब मैं इस बात का उलहना देने गया तब उनमें जो लज्जा, संकोच, अरुचि और कातरता देखी उससे मुझे मालूम हुआ कि महानुभावता का धन से बिलकुल संबंध नहीं है। इसलिये घृणा के बदले मुझमें दया पैदा हुई।

यों सेठजी बड़े सज्जन हैं, विचारक हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष में उनने मेरी तारीफ भी काफी की है और समर्थन भी किया है, लेकिन बहुत से आदमी लोकमत का सामना बिलकुल नहीं कर सकते। इसके लिये वे सत्य, हित और आत्मगौरव को भी कुचल

डालते हैं यह उनमें स्वाभाविक कमजोरी होती है, इससे ये दूसरों का नुकसान जितना करते हैं उससे अधिक वे अपना नुकसान करते हैं, इसलिये उन पर दया ही की जा सकती है।

विद्यालय के मन्त्री जी ने कहा— अभी तक कुछ नहीं बिगड़ा है आप आंदोलन बन्द कर दीजिये। मैंने मुसकराते हुए कहा— अब तो आंदोलन मेरी मौत के साथ ही बंद होगा, रोटी छिनने से वह बन्द नहीं हो सकता। इतना कहकर मैंने त्यागपत्र लिख दिया जिसमें एक महीने के बाद काम छोड़ने की सूचना थी।

पिताजी बहुत घबरा रहे थे, उन्हें चिन्ता थी कि पुरानी गरीबी के दिन फिर न लौट आयें, मुझे भी चिन्ता थी पर मैंने पिताजी को काफी धैर्य बँधाया और कहा— आमदनी ज्यादा हो या कम, पर पेट में उतना ही जाता है जितना उसमें बनता है। सो रूखा-सूखा उतना तो मिल ही जायगा। बाकी अधिक पैसे का उपयोग तो अपनी इज्जत बढ़ाने में है, सो अगर इस प्रकार सत्य के लिये कंगाल बनने में भी इज्जत हो तो अमीरी की क्या जरूरत?

नौकरी छूट जाने पर मुझे आशा थी कि मैं पानीपत चला जाऊंगा, वहां बात भी कर आया था पर यह नहीं समझा था कि दुनिया भरे को भरती है—खाली को नहीं। जब मैं आजीविका से लगा था तब सभी बुलाते थे पर आज जब नौकरी छोड़ चुका हूँ और मुझे उसकी खास जरूरत है—तब कोई पूछनेवाला नहीं। एक संस्था से अलग होने के कारण सभी संस्थावाले डर गये। तिलोकचन्द हाइस्कूलवालोंने भी कुछ बात नहीं पूछी, पानीपत वालों ने तो

पत्र का उत्तर भी न दिया और भी दो एक जगह लिखा और ऐसी जगह लिखा जहां अगर पहिले लिखता तो वे अपने को सौभाग्यशाली मानते पर सब लोग चुप रह गये। यद्यपि मैं सब कुछ सहने को तैयार था पर इस बात का खयाल अवश्य आता था कि दूसरा कोई अच्छा स्थान न मिला तो आर्थिक कष्ट तो बढ़ ही जायगा साथ ही संगी-साथी मजाक भी उडायँगे जिन विद्वानों ने मेरा साथ दिया है वे भी चौकन्ने होजाँयगे। और हुआ भी ऐसा ही। एक अच्छे विद्वान ने तो मेरी नौकरी छूटने पर अपनी सम्मति वापिस भी लेली। अब मुझे ध्यान में आया कि विपत्ति का वास्तविक रूप क्या है?

पर विधाता ने मेरे स्वभाव में कुछ ऐसी उग्रता भर दी कि ज्यों ज्यों लोगों की उपेक्षा का पता लगता जाता था त्यों त्यों मनमें एक तरह अहंकार आता जाता था। भय का स्थान रोष ले रहा था यह सहज भावना और भी अधिक उग्र होती जाती थी कि मर भले ही जाऊँ पर झुकूँगा नहीं। इस दृढ़ता का श्रेय सत्यप्रियता को कितना था यह नहीं कह सकता, अभिमान को बहुत कुछ था यह साफ है। भले ही इसे आत्मगौरव कहा जाय।

जितने परिचित थे और जिनसे इस अवसर पर कुछ मदद की आशा थी, उनको मैंने पत्र लिखे पर आर्थिक दृष्टि से सहायता देनेमें सभीने चुप्पी साधी। वर्धा के श्री चिरंजीलालजी बड़जात्या ने अवश्य लिखा कि अगर मेरी आर्थिक अवस्था पहिले सरीखी होती तब कोई बात नहीं थी पर इस समय मैं कुछ विशेष नहीं कर सकता सिर्फ इतना ही कर सकता हूं कि अगर आप वर्धा आवें

तो मेरे घर आप मेरे कुटुम्बी की तरह रह सकते हैं....आदि। पर इसी समय सेठ ताराचन्दजी (बम्बई) ने बम्बई बुलाया, सो जहां मैं दमोह जाकर एक झोपड़ी में गुजर करने का कार्यक्रम बना रहा था वहां घर का विचार छोड़कर बम्बई चल दिया।

त्यागपत्र का रिवाज पूरा किये जाने पर भी विद्यालय के साथ जो मेरा सम्बन्ध टूटा उसे एक तरह से मुझे निकालना कह सकते हैं और निकालने का निर्णय भी ऐसा कि जिसमें मेरे पक्ष की बात सुनी ही नहीं गई। मेरी अनुपस्थिति में ही निर्णय किया गया और दिल्ली से आने पर जब मैंने विरोधियों को चैलेंज दिया तो वह भी सबने टाल दिया। पर यह सब अन्धेर जो मुझे सहना पड़ा वह व्यर्थ नहीं गया। इसलिये विद्यालय से मेरी जैसी विदाई हुई वैसी उस विद्यालय में पहिली ही थी और अभी तक अन्तिम भी कही जा सकती है। आते समय स्टार एशोसियेशन की तरफ से अंग्रेजी में, संस्कृत वाग्वर्धिनी समिति की तरफ से संस्कृत में और वर्धमान सभा की ओर से हिन्दी में, इस तरह तीन मानपत्र और चांदी का गुलदस्ता भी भेंट किया गया। विद्यालय के मंत्रीजी भी बधाई देने और यशोगान करने सभा में आये। अंग्रेजी के जो छात्र कभी पैर नहीं छूते थे वे भी पैरों पर गिर पड़े। इस प्रकार विरोधियों ने मुझे दबाने का जो प्रयत्न किया उसकी प्रतिक्रिया कई-गुणे रूप में उल्टी ही हुई। जैन पत्रों में इस विषय को लेकर काफी चर्चा हुई, धन्यवाद और बधाइयों के ढेर लग गये। इस तरह एक महिने की चिन्ता के बाद मुझे व्यक्तित्व, साहस, यश और अनेक तरह की स्वतन्त्रता मिली और कुछ महिनों में ही

विरोधियों ने अपनी भूल समझ ली। उनमें से कुछ ने कहा भी कि अगर आपको इन्दोर से न भगाते तो अच्छा था। यहां आप हम पर उसका दशांश आक्रमण भी नहीं कर सकते थे जितना कि आज कर रहे हैं।

मुझे अपने जीवन में गति कैसे मिली इसके छोटे बड़े अनेक कारण हैं किन्तु इन्दोर विद्यालय से निकाले जाने से जो मुझे गति मिली वह अगर न मिलती तो मेरी जीवनयात्रा खटारा गाड़ी की चालसे हुई होती जब कि इन्दोर छोड़ने से वह रेलगाड़ी की चालसे (भले ही वह डाकगाड़ी न हो) होने लगी। इसमें मुख्य निमित्त विरोधी विद्वान और सेठ हुकुमचन्दजी हैं।

(२१) बम्बई में आजीविका

इन्दोर से काफी सन्मान के साथ विदाई लेकर जब गाड़ी बदलने के लिये खंडवा उतरा तब खंडवा के बहुत से मित्र स्टेशन पर स्वागतार्थ उपस्थित थे। स्टेशनपर ही फलाहार वगैरह कराया और गाड़ी में चढ़ाया। बिदाई के समय एक भाई बोले--एकाध हफ्ते में फिर आपके स्वागत के लिये यहीं आना पड़ेगा।

मैंने कहा--क्यों?

वे बोले--बम्बई का भारी पानी आपको क्या पचेगा इसलिये आपको जल्दी लौटना पड़ेगा तब हम आप का फिर स्वागत करेंगे।

यह भक्तिप्रदर्शन क्या था एक तरहका शाप था। मैं मन ही मन कुछ खिन्न हुआ, कुछ हँसा, फिर अभिमानसे गुनगुनाया--अच्छा, सत्य के लिये समाज से तो लड़ना ही पड़ रहा है अब पानी से भी लड़ूंगा।

बम्बई आकर मैंने इसकी तैयारी भी की। नियम कर लिया कि कई माह तक गरम पानी ही पियूंगा। मिठाई खाना बिलकुल बन्द, घर में भी पुड़ी वगैरह खाना बन्द, केला आदि फल भी बन्द; फलों में सिर्फ मोसम्मी रक्खी। इस प्रकार तपस्वी जीवन बिताने से मेरा स्वास्थ्य बिलकुल ठीक रहा और एक तरह से मैं बम्बई के पानी की तरफ से निश्चित होगया। तीन चार महीने बाद गरम पानी भी छोड़ दिया तथा धीरे धीरे दूसरी चीजें भी लेने लगा।

इन्दोर से जब चला था तब यह सोचकर चला था कि बम्बई में कुछ निश्चित वेतन और निश्चित काम होगा। पर यहां आने पर माद्धम हुआ कि मेरे लिये नौकरी ढूढ़ी जायगी इसलिये जानेपर कुछ दिन बेकार ही रहना पड़ा। पर सेठ ताराचन्दजी तथा मगनबाई जी का मेरे लिये काफी प्रयत्न था इसलिये विशेष चिन्ता न थी।

जाने के दूसरे तीसरे दिन मगनबाई जी के आश्रम में परीक्षा लेनेके लिये बुलाया गया। मैंने कई घंटे तक परीक्षा ली और हर प्रश्न पर कुछ समझाया भी। इस प्रकार अपनी पंडिताई और अध्यापन कला का विज्ञापन भी हो गया। निश्चय हुआ कि श्राविकाश्रम में सर्वार्थसिद्धि पढ़ाने के लिये मैं रक्खा जाऊंगा, एक घंटा पढ़ाना होगा ३०) महीना मिलेगा। इस प्रकार ३०) महीना पाकर बेकारी से पिंड छूटा।

बीस पच्चीस दिन बाद जैन बोर्डिंग में भी पढ़ाने का काम मिल गया वहां से भी २५) महीना निश्चित हुआ।

इसी समय मुझे स्व. श्री सूरजमल लल्लूभाई से मिलाया गया

उनने मुझ से जैनप्रकाश के लिये एक लेख माँगा। मेरे लेख से कदाचित् वे प्रसन्न हुए और जैन प्रकाश के हिन्दी विभाग में लेख लिखने के लिये मैं ३५) महीने पर रख लिया गया। इस प्रकार १००) महीने की आमदनी पाकर मैं निश्चिन्त होगया। इन्दौर से बम्बई का खर्च ज्यादा था पर वेतन भी कुछ ज्यादा मिलने लगा इसलिये टोटल बराबर ही रहा।

बाद में माणिकचन्द ग्रंथमाला का काम भी मिल गया। उसका काम भी १५-२० रुपये महीने का कर लेता था यह आमदनी इन्दौर से अधिक थी। इसलिये इन्दोर की अपेक्षा बचत कुछ अधिक करने लगा। अर्थसञ्चय की आवश्यकता भी अधिक मालूम होती थी, क्योंकि सेवा का जो क्षेत्र मैंने चुना था उसमें जीवन भर समाज की चोटें खाना जरूरी था। चोटें निंदा अपमान आदि में ही समाप्त नहीं हो जातीं किन्तु भूखों मारने की भी पूरी कोशिश की जाती है। ऐसी परिस्थिति में आर्थिक दृष्टि से कुछ स्वावलम्बी होना जरूरी था। यही कारण है कि संग्रह की लालसा न होनेपर भी संग्रह की तरफ विशेष ध्यान देने लगा।

जब बम्बई में जम गया तब फिर समाज के अनेक स्थानों से बुलाने के पत्र आने लगे। एकबार फिर अनुभव हुआ कि दुनिया भरे को भरती है और भूखेको ठोकर मारती है। इसे क्या कहा जाय? दुनिया के इस अज्ञानका परिणाम यह होता है कि बहुत कुछ देकर भी वह कुछ नहीं पाती उसका कुछ उपयोग नहीं होता। जरूरत वाले को अवसर पर दीगई सहायता जितनी उपयोगी है वह जितना प्रेम और कृतज्ञता पैदा कर सकती है उसका दसवां हिस्सा भी भरे को भरने

से नहीं मिलती ।

समाज को मुझ से विरुद्ध देखकर जो मुझसे किनारा काटने लगे और समाज के सामने टिका हुआ देखकर जो मुझे फिर चाहने लगे उनकी स्थिति को मैं समझता हूं । उनके ऊपर जो किसी संस्था का बोझ होता है उसकी रक्षा के लिये उन्हें समाज की कुरुचिका भी समर्थन कर पड़ता है इस विषमता का कारण भी समझ में आता है । फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि वे समाज को जो कुछ देते हैं उससे ज्यादा हानि करते हैं अथवा सेवा को निष्प्राण बना देते हैं । उन संस्थाओं के बालकों पर ये संस्कार मजबूती से जम जाते हैं कि हमें सत्य के आगे नहीं लोकरुचि के आगे झुकना चाहिये । ऐसे आदमी समाज का हित नहीं कर सकते उसे सिर्फ रिझा सकते हैं । यही कारण है कि पंडितों की-शिक्षितों की-संख्या बढ़ती जाती है पर पथप्रदर्शकों और सेवकों की संख्या घटती जाती है अथवा बढ़ नहीं रही है । खैर,

बम्बई आनेपर मैं एक तरह से खुली हवा में आया अभी तक मेरी स्थिति लंका में विभिषण सरीखी ही रही थी । पुराने विचार के लोगों में ही शिक्षण हुआ था उन्हीं में रहकर अध्यापन का कार्य करना पड़ा था दिनरात धर्मान्धता और रूढ़ियों का समर्थन होता था और उन्हीं में रहकर मैं अपने सुधारकता के पौधे को थोड़ेसे विवेकजलसे सींच रहा था । प्रतिकूल हवा की लू के झोंके उस पौधे को झुलसा देना चाहते थे, पर मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर किसी तरह उस पौधे को झोकों से बचाये रख रहा था । बम्बई में आनेपर उतनी चिन्ता न रही ।

यद्यपि यहां भी जैनसमाज की नौकरी थी फिर भी सञ्चालक कुछ सुधारक थे और जितना सुधारक कहला कर मैं बम्बई में आया था उसके लिये वह नौकरी बाधक न थी। कम से कम उस अवस्था में पैर जमाने को काफी थी।

फिर भी निश्चिन्त नहीं था। भीतर जो सुधारकता का तूफान सा आरहा था वह अगर सारा का सारा समाज को दिखाई दे जाय तो बम्बई के संस्थासञ्चालक भी सहन कर सकेंगे, ऐसी आशा नहीं थी। यों तो मैं अच्छे सहयोगियों के बीच पहुंच गया था फिर भी प्राचीनता के समर्थक मेरे विरोधी पंडितों को जो सुविधा थी वह मुझे न थी। वे मेरा विरोध करें तो उनकी समाजसेवा थी ही, साथ ही नौकरी का काम भी समझा जाता था जब कि मुझे नौकरी का काम पूरा बजाना पड़ता था। कभी सामाजिक कार्य के लिये भी बाहर जाना पड़े तो उसके लिये भी उलहना खाना पड़ता था। इसलिये समाज के काम के लिये मुझे छुट्टी के दिन और छुट्टी का समय ही मिलता था। कुछ वर्षों बाद तो यह नियम सा होगया था कि गर्मी की छुट्टी प्रचार के लिये दौरा करने में जाती थी। आमदनी कुछ बढ़ जाने से इस काम में दो ढाई सौ रुपया प्रतिवर्ष खर्च भी करने लगा था।

खैर, इन्दोर से हर तरह अच्छा था। आमदनी बढ़ी थी स्वतन्त्रता बढ़ी थी सामाजिक सम्पर्क बढ़ा था और इन सब कारणों से उत्साह और कर्मठता बढ़ी थी। इस सुधरी हुई परिस्थिति का एक अच्छा असर यह भी हुआ कि लोगों पर कुछ प्रभाव भी जम गया। एक तो यह कि आर्थिक दबाव आने पर भी मैं नहीं दबा इससे

भीतरी दृढ़ता का परिचय मिला दूसरा यह कि विरोधियों ने सोचा था कि आजीविका के क्षेत्रमें इन्हें गिरादेने से दूसरों पर अच्छी धाक जमेगी और उत्साह भी ठंडा होजायगा सो मेरी स्थिति बिगड़ने के बदले सुधरी इसलिये न तो दूसरों पर कोई बुरी छाप गिरी न मेरा उत्साह ठंडा हुआ।

यही कारण है कि मेरे बाद जिन विद्वान को इन्दोर विद्यालय में रक्खा गया वे भी विजातीय-विवाह के समर्थक निकले। कुछ समय बाद उनने अपने विचार प्रकट भी किये किन्तु फिर कोई कुछ न कह सका। सबने समझ लिया कि 'कूपहि में अब भांग परी है'।

खैर, प्रारम्भ की कुछ कठिनाई के बाद आमदनी बढ़ती ही गई। बम्बई में चार वर्ष रहने के बाद मूर्तिपूजक श्वे. सम्प्रदाय के महावीर विद्यालय में मुझे १३५) रुपये महीने पर काम मिल गया। इसलिये माणिकचन्द ग्रन्थमाला और दि. जैन बोर्डिंग का काम छोड़ दिया। जैनप्रकाश में लेख देता रहा और एक घंटा श्राविकाश्रम में भी पढ़ाता रहा इस प्रकार २००) महीने की आमदनी हो गई। कुछ समयबाद १५) वेतन विद्यालयकी तरफ से और बढ़ा दिया गया। कुछ रुपया बैंक में भी जमा हो गया था उसका ब्याज भी मिलता था इस प्रकार खासी आमदनी होगई। अब तो मनमें कभी कभी यह विचार तक आने लगा कि इतने रुपयों का करना क्या?

जीवन सादा था, व्यसन कोई था नहीं, सिनेमाघरों के पास में रहते हुए भी महीने दो महीने में एकाध दिन सिनेमा की वारी आती थी, स्वच्छता प्रिय और शृंगारप्रिय होनेपर भी कंजूस था इसलिये दो सवा दो सौ रुपये महीने की आमदनी जरूरत से

ज्यादा ही थी ! इसका एक ही उपयोग सूझा करता था कि अगर अधिक रुपया होगया तो नौकरी से स्वतन्त्र होजाऊंगा और फिर बिना किसी भय या संकोच के अपने विचारों का प्रचार करूंगा। और इसी कारण धनसञ्चय की तृष्णा पीछे पड़ी हुई थी। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि एक क्रान्तिवाद को लजानेवाली यह कायरता थी कि जीविका की तरफ से कहीं निराश्रित न हो जाऊँ। पर इसे कायरता समझूं या सतर्कता, यह अभी भी नहीं कह सकता। संभवतः कायरता ही है पर जी चाहता है सतर्कता कहने को।

महावीर विद्यालय में पौने तीन घंटे काम करना पड़ता था। कालेज में प्रोफेसर लोगों को करीब इतना ही काम करना पड़ता है और वेतन मुझ से दुगुना तिगुना चौगुना तक मिलता है, यह भी मैं समझता था कि मेरा काम प्रोफेसरों के काम से खराब नहीं है फिर भी ऐसा लगा ही करता था कि मैं कुछ ज्यादा ले रहा हूं। सरकारी कर्मचारियों के बड़े बड़े वेतनों के विषय में यही खयाल था और बहुत कुछ अब भी है कि वह तो विदेशी शासन को भारत में जमाये रखने के लिये शिक्षित भारतीयों को दी जानेवाली लांच है। उसका योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे ऐसे सरकारी कर्मचारी हैं जिनको हजार हजार दो दो हजार रुपया महीना वेतन मिलता है पर जिनकी योग्यता उनसे बहुत कम है जिन्हें आज बाजार में मुश्किल से पचास रुपये मिलपाते हैं। इसका एक कारण तो भाग्य या अकस्मात कहा जा सकता है पर दूसरा और मुख्य कारण सरकार की खासकर विदेशी सरकार की राजनीति है।

साहित्यरत्न पं. दरबारीलाल न्यायतीर्थ—

[बम्बई में]

इसलिये वेतन के विषय में मुझे इस लांच का अनुकरण क्यों करना चाहिये। क्यों न मैं जितना काम करता हूं उससे अधिक करूं ?

पर प्रश्न यह था कि यह कैसे हो। यों ही तो समय दिया नहीं जा सकता और मेरे पास समय भी नहीं था क्यों कि जैन-जगत और सामाजिक आन्दोलन चलाने में इतनी शक्ति खर्च हो जाती थी कि नौकरी का साधारण काम भी मेरे लिये बोझ था। पर एक तरफ जवानी और दूसरी तरफ सामाजिक क्रान्ति करने का नशा, इसलिये सब धकाता चला जाता था। फिर भी यह लालसा भी थी कि नौकरी के काम में जितना कम समय देना पड़े उतना ही अच्छा क्योंकि बचा हुआ समय समाज के काम में आगया।

इस प्रकार एक तरफ कम समय देने का खयाल, दूसरे तरफ अधिक से अधिक पैसे लेने का विचार, तीसरे तरफ पैसे के अनुरूप अधिक काम करने की इच्छा, इस त्रिकोण का मेल कैसे बैठे, यह चिन्ता होने लगी।

यद्यपि यहां स्वार्थ और परार्थ का द्वन्द माल्म होता था पर गहरी नजर डालने से पता लगेगा कि यहां दोनों तरफ स्वार्थ ही था। अधिक काम करने की इच्छा का मुख्य कारण था अपना सन्मान बढ़ाना और अपना स्थान मजबूत बनाना। मैं चाहता था कि मैं ऐसा काम करूं कि मुझे बिदा देना संस्थासञ्चालकों के लिये कठिन होजाय मेरी कमी उन्हें खटके। असली बात यह थी कि मैं उस कठिन प्रसंग को देख रहा था कि जब मेरे विचारों को न सहकर इस समाज में भी कभी न कभी क्षोभ मचेगा। उस समय अगर यह मेरी विशेष कर्मठता मुझे कुछ समय अधिक टिकाये रक्खे

तो अच्छा, क्योंकि बम्बई छोड़ने के बाद समाज में कहीं काम करने लायक न रह जाऊंगा यह मैं समझता था। इस प्रकार न तो मैं अपनी रोटी का बोझ किसी पर डालना चाहता था न सामाजिक क्रान्ति का काम छोड़ने को तैयार था। यही था मेरा वह स्वार्थीपन जिसने मुझे अपनी तरफ से अधिक काम करने के लिये प्रेरित किया था। पर उस समय कोई अधिक काम था ही नहीं, इसलिये मुझे एक वर्ष तक थोड़ा काम करना पड़ा।

इतने में सौभाग्य से एक सेठजी ने विद्यालय को तीस हजार की रकम इस काम के लिये देना चाही कि विद्यालय में अगर बी. ए. तक अर्धमागधी और न्यायतीर्थ की पढ़ाई का इन्तजाम हो तो इन विषयों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों को पांच पांच दस दस रुपया महीना स्कालर्शिप दीजाय।

मुझ से पूछा गया। मुझे तो मनचाही मुराद मिली। मैंने तुरंत स्वीकृत दे दी कि मैं अकेला ही बी. ए. तक अर्धमागधी और प्रथमा मध्यमा और तीर्थ की कक्षाएं सम्हाल लूंगा।

मेरे विश्वास दिलाने पर बिना किसी झंझट के यह योजना चालू कर दी गई। न्यायतीर्थ का कोर्स पढ़ाना तो कठिन नहीं था पर अर्धमागधी मैं स्वयं नहीं पढ़ा था। इसलिये कक्षाएँ चालू होने के पहिले गर्मी की छुट्टियोंमें एक महीने तक मैंने अर्धमागधी का व्याकरण रटा, कुछ साहित्य देखा, अगले साल पढ़ाये जानेवाला कोर्स देखा और एक प्रोफेसर की तरह सब कक्षाएँ लेने लगा। आवश्यकता होनेपर एम. ए. तक की पढ़ाई की। इस प्रकार अपनी समझ के अनुसार मैंने अपना स्थान जमा लिया। इससे मुझे अध्ययन

करने का खूब अवसर मिला, स्थान भी बना, और भर पेट–क्योंकि मेरा पेट बहुत बड़ा नहीं था–पैसा भी मिला । इस प्रकार आजीविका की गाड़ी श्रेय और प्रेय दोनों पहियों के सहारे अच्छी तरह दौड़ने लगी ।

[२२] जैनजगत का सम्पादन

बम्बईमें आनेपर विजातीय-विवाह आन्दोलन और भी जोर से चला । उससमय जैनमित्रके जरिये आन्दोलन करता था पर बम्बई आने पर जैन जगत् से सम्बन्ध बढ़ा । जैन जगत के निकालने में चार व्यक्तियों का हाथ था । उसके प्रकाशक श्री फतहचन्द जी सेठी अजमेर, सेठ ताराचन्दजी बम्बई, श्री नाथूरामजी प्रेमी बम्बई, और श्री कर्पूरचन्दजी पाटनी जयपुर । पाटनी जी सम्पादक थे पर अन्य कार्यों की बजह से बिशेष योग नहीं दे पाते थे । इन्दौर में रहते हुए भी मैंने जैन जगत् का उपयोग किया था पर बम्बई में आने पर सेठ ताराचन्दजी और प्रेमी जी के अनुरोध से काफी सम्बन्ध बढ़ा, अनेकबार सम्पादकीय अग्रलेख मुझेही लिखना पड़ते और टिप्पणियाँ भी । अब सब की इच्छा हुई कि मैं इसका सम्पादक होजाऊं। पर नियमित लिखने के बोझ से मैं बचना चाहता था । इस प्रकार बहुत दिन टालता ही रहा । पर मेरे फिर फिर करते रहने पर भी प्रकाशकजी ने मेरा नाम एक जनवरी १९२८ के अंक पर सम्पादक के स्थान पर डाल दिया ।

जैन जगत की नीति जन्म से ही काफी निर्भीक थी । मेरे आनेपर भी उसकी नीति वैसी ही रही बल्कि कुछ बढ़ती ही गई ।

जैनजगत ने एक पर एक अनेक आन्दोलन किये। उसमें सुधार सम्बन्धी सभी बातों पर चर्चा रहती थी। पर सत्य के लिये अच्छे से अच्छे सहायकों की पर्वाह न की जाती थी। इससे जैन जगत की आर्थिक अवस्था सदा संकटापन्न रही पर यही उसका जीवन था और इससे उसकी धाक प्रायः सभी जैन पत्रों से अधिक थी। तर्क वितर्क करना शास्त्रीय चर्चा करना आलोचना करना मेरा काम था और अच्छे से अच्छे समाचार ढूढ़ निकालना प्रकाशक जी का काम था। इस तरह जैनजगत प्रेम से या द्वेष से सब की आँखों पर चढ़ गया था।

जैन-जगत आर्थिक संकट में रहने पर भी अपनी नीति से पीछे हटकर किसी भी तरह के प्रलोभन में न फँस सकता था, इसकी परीक्षा एक बार यों हुई कि एक श्रीमान जी ने कहलाया कि यदि आप जैनजगत में विधवा-विवाह के पक्ष में कुछ न लिखें तो हम जैनजगत का सारा घाटा उठाने को तैयार हैं। इसमें संदेह नहीं कि जैनजगत उस समय काफी आर्थिक संकट में था फिर भी मैंने कहा— अगर किसी से कहा जाय कि तुम लकवा से पीड़ित हो जाओ तुम्हारे लिये खाने-पीने का प्रबन्ध हम कर देंगे, तो ऐसी सहायता कौन चाहेगा ? इसकी अपेक्षा मरना क्या बुरा है। जैन-जगत ऐसी किसी शर्त पर कोई सहायता नहीं चाहता। यह थी जैनजगत की नीति।

वर्ष दो वर्षमें कोई नया आन्दोलन खड़ा करना और उसको अच्छी तरह चलाना और उसकी उचितता सिद्ध कर उस मामले में विरोधियों को हटाकर ही दम लेना, जैनजगत की विशेषता थी।

इससे पाठकों को खूब नया नया मसाला मिलता था। यही कारण है कि जोर शोर से बहिष्कार होने पर भी पत्र टिका रहा और घाटे की पूर्त्ति भी मित्रों की तरफ से और समाज की तरफ से होती रही।

इस विषय में सब से अधिक उल्लेखनीय बात है मेरा और प्रकाशकजी का प्रेम। हम दोनों एक दूसरे की सुविधाओं का पूरा खयाल रखते थे। विशेष मतभेद तो था ही नहीं, अगर थोड़ा बहुत मतभेद होता तो एक दूसरे के कार्य का समर्थन करते थे। यही कारण है कि जब मैंने सत्यसमाज की स्थापना की और पत्र जैन-समाज के बाहर जाने लगा तब प्रकाशक जी का कुछ मतभेद रहने पर भी उनने बराबर मेरी इच्छा के अनुसार काम किया। यहां तक कि जब मैंने पत्र का नाम बदल कर सत्यसन्देश करना चाहा तब भी उनने कोई इतराज न किया। हालां कि उनकी इच्छा नाम बदलने की और कार्यक्षेत्र बदलने की न थी।

इतना करने के बाद भी जब पत्र वर्धा आया तब पत्र पर करीब ७००) रु. का ऋण था वह भी उनने चुका दिया और फिर सत्यसन्देश से नहीं लिया। ऐसे अच्छे सहयोगी मित्र के पाने से ही पत्र ऐसा कार्यक्षम बन सका।

जैन जगत और सत्यसन्देश के सम्पादन द्वारा मुझे समाज-सेवा का अच्छा अवसर मिला। यह पत्र न होता तो जिस रूपमें मैं आन्दोलक बन सका उस रूपमें कभी न बन पाया होता, शायद किसी दूसरे रूपमें साहित्यिक क्षेत्र में उतरा होता। पर जो कुछ हुआ उसमें जैनजगत या सत्यसन्देश का काफी हाथ है। जैन-जगत का **सम्पादन** निष्फल नहीं गया।

(२३) विविध आन्दोलन

इन्दोर में विजातीय-विवाह का आंदोलन ही गनीमत था पर बम्बई में इतना भय नहीं था—साथ ही 'जैन-जगत' पत्र हाथ में था इसलिये प्रबल आंदोलक बन गया। सुधार के विरोध में जो भी आये उन सब ऊपर टूट पड़ता। लेखनी द्वारा आक्रमण करने में दया-मायाका कुछ काम न था। हाँ, सभ्यताका खयाल रखता था।

स्थितिपालक दल की नीति समाज को भड़काने की रहती थी। विजातीय-विवाह से समाज नहीं भड़कती तो विधवा-विवाह से सही—इसी नाम से समाज को भड़काने लगते। कुछ दिन तक मुझे रजस्वला स्त्री को मंदिर में ले जानेवाला कहा गया। ऐसी बातों का यह परिणाम होता था कि उनपर भी मैं लम्बे लम्बे शास्त्रीय विवेचनापूर्ण लेख या लेखमालाएँ लिख मारता था।

एक दिन सुधारक कहलाना भी कुछ निंदाजनक समझा जाता था पर विजातीय विवाह आन्दोलन की सफलता से तथा जैनजगत् के आन्दोलनों से वह बात न रही। सुधारक और स्थितिपालक दल बराबरी पर आगये इसलिये यह सोचा गया कि किसी तरह दोनों दलों में सुलह करली जाय। इसलिये सेठ हुकुमचन्दजी के यहां इन्दोर में एक सुलह मीटिंग की योजना की गई। सुधारक लोग इसके लिये बहुत कुछ झुकने को तैयार थे पर इतने पर भी स्थितिपालक पंडित लोग राजी न हुए। उन्हें कुछ लोगों के, खास कर मेरा, नाम महासभा में शामिल करने में बड़ी आपत्ति थी।

यह अच्छा ही हुआ क्योंकि मैं ऐसे समझौतों से कोई लाभ नहीं देखताथा कम से कम वह मेरे जीवन के कार्यक्रम के विरुद्ध था। विजातीय विवाह का आन्दोलन कर सकते हो पर अमुक अमुक आन्दोलन नहीं कर सकते, इस प्रकार की शर्तों पर यह समझौता खड़ा होनेवाला था। मैं इस समझौते पर दो चार महीने से अधिक नहीं टिक सकता था। मेरे जीवन के कार्यक्रम में तो एक के बाद एक आन्दोलन थे और वे सिर्फ आन्दोलन ही न थे अवसर पड़ने पर मैं उन्हें कार्यपरिणत करना कराना चाहता था, इसलिये यह समझौता निश्चित ही टूट जाता। स्थितिपालक पंडितों ने अगर यह समझौता स्वीकार कर लिया होता और जब कल विधवा विवाह आदि का आन्दोलन खड़ा होता तो विरोधी पंडित फिर उछल कूद कर सुधारकों को अलग करते। पंडितों और सेठों को रिझाने का मार्ग सुधारकों का नहीं होना चाहिये। मैं इस विषय में अपनी एक ही दृढ़ नीति रखता था कि जनता के सामने अपनी सचाई युक्ति आदि से प्रगट करना, साबित करना, इस प्रकार जनता को स्तब्ध करके थोड़े बहुत आदमियों को लेकर उस सुधार को कार्यपरिणत करना। इसके बाद अगर जनता का प्रक्षोभ हो तो शहीद होने की अपनी तैयारी बताना, डटे रहना, अपनी सचाई का प्रचार करते रहना। इस ढंगसे धीरे धीरे सुधार रिवाज बनता है जनता झुकती है बाद में बाकी रहे सहे झुकते हैं। इतना आन्दोलन तुम कर सकते हो और इतना नहीं कर सकते, इन बातोंके समझौते में शक्ति बर्बाद करने की कोई ज़रूरत नहीं है। धीरे धीरे किस तरह आन्दोलन करना यह हम स्वयं निर्णय करेंगे। हम जनता की नाड़ी

अपने हाथ से देखेंगे जनता के दलालों के हाथों नहीं।

यही थी मेरी नीति, इसी नीति पर मैं चला, चल रहा हूं कदाचित् भविष्यमें भी चलूंगा। यह तो सुधार आन्दोलनके सौभाग्य की बात थी कि इन्दोर की सुलह मीटिंग असफल रही समझौता न हुआ। अगर सफल हुआ होता तो सुधार आन्दोलन के कुछ वर्ष खासकर मेरे जीवन के कुछ वर्ष सुधार की दृष्टि से व्यर्थ गये होते।

मेरे खयाल से समझौता लेन देन की चीज है परन्तु जहां सत्यासत्य का निर्णय करना है रोगी की चिकित्सा करना है वहां सत्य ही सब से अधिक प्रबल है।

आन्दोलन जोर से चल रहा था स्थितिपालक दल टिक नहीं रहा था इसका मुख्य कारण यह था कि उनने श्रीगणेश बुरा किया था। विजातीय विवाह आन्दोलन का विरोध किया उनने जैन शास्त्रों के आधार से, पर विजातीय विवाह के समर्थन का साहित्य जैन शास्त्रों में जितना भरा पड़ा है उतना शायद ही कहीं हो। बात यह है कि म. महावीर ने जैन धर्म की स्थापना जिन जिन बातों के लिये की थी उनमें जाति पांति के बन्धन तोड़ना भी मुख्य था। इसलिये जैन शास्त्रों में असवर्ण विवाह आर्यम्लेच्छ विवाहों के उदाहरण भरे पड़े हैं। अब उनका विरोध शास्त्र के आधारसे करना समाज की आंखों में धूल झोंकना था।

सामाजिक दृष्टि से अगर विरोध किया होता तो भी स्थिति-पालकों को सफलता न मिलती, क्योंकि कई अल्पसंख्यक जातियों को इसकी बहुत जरूरत थी, फिर भी इतनी असफलता न मिलती। सामाजिक दृष्टि से तो दोनों पक्ष में कुछ न कुछ कहने की

गुंजाइश थी पर शास्त्रों की दृष्टि से तो विजातीय विवाह के विरोध का पक्ष बिलकुल कमजोर था। स्थितिपालक पंडितों से प्रारम्भ में जो यह भूल होगई सो फिर नहीं सुधरी। और इस क्षेत्र में उन्हें जो मुँहकी खाना पड़ी उसने इनकी प्रामाणिकता को ऐसा धक्का लगाया कि आगे की बातों की घोषणाओं का भी इनके मुँह से कुछ मूल्य न रहा। स्थितिपालकों की इस परिस्थिति से मुझे काफी बल मिला। मेरे पक्ष की प्रबलता मेरी योग्यता की प्रबलता भी मानी जाने लगी। मुझे इससे काफी आत्म-विश्वास भी मिला। आप इसे घमंड भी कह सकते हैं क्योंकि इससे मुझे विरोधी विद्वानों के न तो पांडित्य पर श्रद्धा रही न उनकी प्रामाणिकता पर।

मुनिवेषियों से भिड़न्त

जब स्थितिपालक दल टिक न सका तब विरोधी विद्वानों ने जैन मुनियों का सहारा लिया। दिगम्बर जैन समाज में मुनियों के विषय में अटूट श्रद्धा थी क्योंकि उस समय दि० जैन मुनि कोई थे ही नहीं और शास्त्रों में मुनियों का जो वर्णन मिलता है वह अत्यन्त श्रद्धोत्पादक है। कुछ समय पहिले एक मुनि अनन्तकीर्त्ति हुए थे जो कि भक्तों की गलती से आग में जल मरे थे तब से जनता की मुनिभक्ति इस जमाने के मुनियों के लिये भी स्थिर हो गई। इस भक्ति का उपयोग कुछ लोगों ने कर लेना चाहा और वे मुनि बन गये। इनमें प्रायः सभी अपढ़ थे इसलिये उनको अपना महत्व बनाये रखने के लिये कुछ पंडितों की जरूरत थी। इधर पंडित

यह चाहते थे कि अपनी बात का अगर इन मुनियों से समर्थन करालिया जाय तो जनता को अपनी तरफ अच्छी तरह खींचा जा सकेगा और सुधारकों को दबाया जा सकेगा।

जहां तक राजनीति का सम्बन्ध है, पंडितों की यह चाल उनके रक्षण के लिये काफ़ी अच्छी थी। पंडितों और मुनियों दोनों के अपने अपने स्वार्थ थे इसलिये दोनों मिल गये। मुनियों ने पंडितों के विचारों का समर्थन किया पंडितों ने मुनियों को परम वीतराग सर्वज्ञ आदि कहना शुरू किया। पर इसका भयंकर परिणाम यह हुआ कि घोर से घोर दुराचारी मुनि-वेषियों का समर्थन भी पंडितों को करना पड़ा इसलिये अन्त में सब की लुटिया डूबगई।

पर यह सब पीछे की बात थी। पहिले तो जब सुधारकोंके सामने लड़ने के लिये मुनि लोग खड़े दिखाई दिये तब सुधारक भी किंक-र्तव्यविमूढ़ होगये। सुधारक पत्र भी मुनिवेषियों के विषय में मौन धारण किये रहे। सचमुच सुधारकों के सामने एक समस्या ही खड़ी हो गई। मुनिवेषियों को छेड़ना भौंरमछों के छत्ते में हाथ डालना था।

पर इस तरह चुप कब तक रहा जाता अन्त में जैनजगत् ने इस मोर्चे पर डटने की तैयारी की। मुनि अशिक्षित थे शिथिला-चारी भी थे इसलिये एक दो सज्जन दबी जबान से कुछ कहते तो थे ही, खासकर ऐसी आवाज पं. गणेशप्रसादजी वर्णी ने निकाली थी, पर इसका कुछ परिणाम नहीं हो सकता था, इसके लिये व्यव-स्थित रीति से आन्दोलन करने की जरूरत थी। उस समय जैन-

जगत् ही यह काम कर सकता था और उसीने किया।

'मुनिधर्म की रक्षा करो' इस शीर्षक से मैंने एक लेख लिखा जो १ मार्च १९२८ के जैनजगत् में अग्रलेख के रूप में निकला उसमें जैन शास्त्रों की दृष्टि से मुनिवेष की निरर्थकता, मुनिपद का महत्व और इन मुनियों के शिथिलाचार की तरफ संकेत था साथ ही यह भी बताया था कि अयोग्य मुनियों की पुराने समय में कैसी छीछालेदार होती थी।

इस लेख के निकलते ही चारों तरफ से गालियों की बौछार आने लगी। सुधारक कहलानेवालों ने भी विरोध किया और मिलने पर लाल पीली आँखें दिखलाईं। पर मैं दबा नहीं, बल्कि लेखनी को और तेज किया। हाँ, इस बात का पूरा खयाल रक्खा कि कोई झूठी बात न निकल जाय। साथ ही अपनी बातें शास्त्र के अनुसार लिखीं।

इस चर्चा में कोई कोई आक्षेप और उनके उत्तर बड़े दिलचस्प होते थे। जब बहुत से लोगों ने समाचार-पत्रों में चिट्ठी-पत्री में या मिलने पर मुनिनिंदक कहकर मुझे खूब गालियाँ दीं तब मैंने लिखा—

गालियों का स्वागत करने का अवसर मनुष्य को दो तरह से मिलता है। जब वह लड़के की ससुराल में जाता है तब समधिनें गाली गाया करती हैं या वह सुधारक बनता है तब स्थितिपालक लोग गाली गाया करते हैं—ये दोनों ही अवसर बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। पहिले अवसर की तो हमें आशा नहीं है इसलिये

दोनों का हर्ष हम एक ही अवसर पर मना लेते हैं।

यह थी मेरी बेशर्मी, जिसके बल पर मैं गालियों का तथा निन्दा आदि का सामना किया करता था। उस समय मैं हरएक आक्षेप का उत्तर दिया करता था। इस प्रकार के उत्तरों का संग्रह किया जाय तो एक दिलचस्प पुस्तक बन सकती है। मुनि-वेषियों के दोषों की आलोचना भी ऐसी ही दिलचस्पी से विनोदपूर्ण तथा तर्कपूर्ण भाषा में किया करता था। मुनिवेषियों को इससे बहुत परेशानी उठाना पड़ती थी और इसके लिये उनको और उनके अनुयायिओंको एक से एक बढ़कर छल से काम लेना पड़ता था।

ज्योंही जैनजगत्में उनके विषयमें ऐसी कोई बात प्रकाशित हुई जिसके प्रगट होने से जनता पर मुनियों का प्रभाव कम हो जायगा त्योंही उस कार्य को या रीति को बन्द किया जाता और फिर कहा जाता-कोई देखले, यह बात नहीं है, जैन-जगत झूठ लिखता है। फिर जैन जगत् लिखता कि हमारा लिखना कहाँ तक सत्य था और फिर किस छल से यह बात बन्द की गई। पर छल से ही क्यों न हो सुधार किया इसके लिये धन्यवाद देता।

प्रारम्भ में ही इस आलोचना आदि का परिणाम यह हुआ कि सम्मेदशिखर से जब मुनिसंघ लौटा जब उत्तर भारत के लोगों ने न तो उन्हें आहार दिया न संघ का साथ दिया इसके लिये विरोधी विद्वानों को पर्चे बाँटने पड़े, लेख लिखने पड़े, लोगों की अन्धश्रद्धा को उत्तेजित करना पड़ा।

जनसाधारण में अन्धश्रद्धा तो होती ही है इसलिये मुनि-वेषियों ने उसका लाभ तो उठाया और वे आज भी उठा रहे हैं पर एक बार मोती का पानी उतरा सो उतरा । मुनिवेष लेनेवालों में न तो कोई *त्यागी था न आत्मार्थी न समाजसेवी*, इन सब के कोई न कोई ऐहिक स्वार्थ थे इसलिये फिर इन्हीं लोगों में आपस में लड़ाइयाँ होने लगीं, कइयों के दुराचार इतने बढ़ गये कि बदबू से घोर से घोर अन्धश्रद्धालु भी नाक मुँह सिकोड़ने लगे । स्थितिपालकों को तब भी इनका समर्थन करना पड़ता था, इन पंडितों के समर्थन से दुराचारियों की खूब बन आई पर कब तक चलती आखिर मुनीन्द्रसागर आदि का ऐसा भंडा-फोड़ हुआ उनके अर्थसंग्रह तथा अन्य दुराचारों का ऐसा नग्न रूप समाज के सामने आया कि जैनजगत् के और मेरे उग्र-विरोधियों ने भी कहा कि जैनजगत को अपन व्यर्थ दोष देते हैं वास्तव में वह ठीक ही लिखता है ।

मुनिवेषियों की पूजा अब भी होती है उनके ठाठबाट अब भी छोटे मोटे राजाओं सरीखे हैं पर न तो वह श्रद्धा रही है न वह प्रामाणिकता । सुधारक कहलानेवाले तो जाने दीजिये पर स्थिति-पालकों के प्रमुखपत्र भी किसी न किसी मुनिवेषी का विरोध किया करते हैं । मुनिवेषियों की निन्दा से ही अब कोई मुनिनिन्दक या मिथ्यादृष्टि नहीं कहलाता । पर इससे भी बड़ी बात जो हुई वह यह कि उनके वचनों की प्रामाणिकता नष्ट हो गई है । मुनि के शब्दों का विरोध करना आगम विरोध है, ऐसी मान्यता अब नहीं रही है । लोगों ने समझ लिया है कि मुनियों का ज्ञान से या विचार

से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

अब किसी सुधार आन्दोलन के विरोध में मुनिवेषियों का उपयोग निरर्थक है अथवा इतना ही उपयोग है जितना साधारण आदमी का होता है ।

स्थितिपालकों ने सुधारकों का विरोध करने के लिये मुनिवेषियों का जो उपयोग किया उससे कुछ समय के लिये सुधार आन्दोलन को धक्का अवश्य लगा, उससे कुछ समय और शक्ति बर्बाद भी हुई पर इससे सुधारकों की अपेक्षा स्थितिपालकों का अधिक नुकसान हुआ, अन्त में सब के पाप का फल समाज को भोगना पड़ा । अगर मुनिवेषियों की ओट न लीजाती और स्वर्गीय पं. गोपालदासजी के समय में पंडितों की जो मनोवृत्ति थी वही रहती तो कम से कम निम्नलिखित लाभ अवश्य हुए होते ।

१—मुनिवेषियों में उच्छृंखलता दुराचार आदि का इतना प्रवेश न हुआ होता जितना होगया ;

२—मुनिवेषियों का उपयोग समाज हितकारी अनेक कामों में हुआ होता ।

३—समाज में अन्धश्रद्धा न बढ़ी होती और उसके पीछे पीछे लाखों रुपयों का जो नाश हुआ वह बहुत कम हुआ होता ।

४—मुनि संस्था व्यवस्थित और संगठित बनी होती और उसमें शिक्षा का प्रचार हुआ होता ।

५—विद्वानों में विचारकता और उनके जीवन की उपयोगिता अधिक रही होती ।

६—दुराचार के शिकार होकर या लोगों की विवेकहीन भक्ति के शिकार होकर जिन मुनिवेषियों को मरजाना पड़ा उन्हें न मरना पड़ा होता।

७—जैनेतर जगत् पर जो बुरी छाप पड़ी वह न पड़ी होती न साम्प्रदायिक द्वेष इतना बढ़ा होता।

८—बहुतसी नई दलबन्दियाँ खड़ीं न हुई होतीं।

और भी ऐसी ही कुछ बातें कहीं जा सकतीं हैं।

खैर, इसके सिवाय और क्या कहा जाय कि जो होना था सो हुआ। समाज की बहुत सी हानि करके यह मुनिवेषिकांड भी खत्म हुआ।

विधवाविवाह का आन्दोलन

जैन पंडितों में और उनके संसर्ग से जैन मुनियों में यह बीमारी आ गई थी कि जब वे विजातीय-विवाह आदि की चर्चामें नहीं जीत पाते थे तब सुधारकों को विधवा-विवाह का पक्षपाती कहने लगते थे। इस विषय में सुधारकों की पाँच श्रेणियां थीं।

१—एक तो वे जो विजातीय-विवाह आदि के समर्थक थे पर विधवाविवाह के विरोधी थे।

२— विधवा-विवाह के समर्थक थे पर समाज में अपना स्थान बनाये रखने के लिये उसका विरोध करते थे।

३—बातचीत में विधवा-विवाह का समर्थन करते थे पर जनता के सामने किसी बहाने से निकल भागते थे या दबी जबान में विरोध करते थे।

४— विधवा-विवाह का प्रचार नहीं करते थे पर कोई उन से पूछे तो बराबर समर्थन करते थे।

५—विधवा-विवाह के प्रचारक थे।

पंडित लोग पहिली तीन श्रेणी के लोगों को बारबार छेड़ते थे और समाजमें उनको विधवा-विवाह के पक्षपाती के रूप में घोषित करते थे। ब्र. शीतलप्रसादजी उक्त पांच श्रेणियों में से दूसरी श्रेणी के थे। उन्हें इस बात में अधिक से अधिक सताया जाता था। सभाओं में उनसे विधवा-विवाह के विरोध में बुलवाया जाता था। पंडित लोग समझते थे कि एक समाज-सेवक व्यक्ति को बार बार अपने दिल को चोट पहुंचाने को विवश करनेमें हमारी जीत होती है। ब्रम्हचारी जी में भी एक तरह की कमजोरी थी, इस तरह वे अपनी इज्जत बचाने में ही कल्याण समझते थे।

एक बार उनने मुझ से कहा था-मेरे विचार विधवा-विवाह के समर्थक हैं लेकिन मुझमें इतनी हिम्मत नहीं है कि मैं उन्हें जीते जी प्रगट कर सकूं पर जब मरने लगूंगा तब लिख अवश्य जाऊंगा।

पंडितों को अगर विधवा-विवाह का प्रचार ही रोकना होता, सुधारकों को गिराने का भाव न होता, तो वे ब्रह्मचारी जी सरीखे लोगों की कभी छेड़खानी न करते, इस तरह उन्हें अपने पक्ष समर्थनमें विशेषलाभ हुआ होता। पर ऐसा मालूम होता हैं कि पंडितों को विधवाविवाहके विरोधकी उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी सुधारकों को गिराकर अपना स्थान समाज में ऊंचा बनाये रखने की चिन्ता थी। इसी भाव के आवेश में उनने ब्र. शीतलप्रसादजी को इतना

तंग किया कि उन्हें अपने विचार प्रगट कर देने पड़े।

प्रगट तो कर दिये पर इस बात को लेकर अगर विजातीय-विवाह आन्दोलन की तरह उग्र आन्दोलन न मचाया जाय तो बद-नामी के सिवाय और कुछ भी हाथ आनेवाला नहीं है, इसबात को सब समझते थे।

विधवाविवाह का आन्दोलन इसके पहिले भी चल चुका था। स्व. श्री दयाचन्दजी गोयलीय ने कुछ समय तक यह आन्दो-लन खूब चलाया था, श्री नाथूरामजी प्रेमी, श्री सूरजभानुजी वकील आदि ने भी जोर लगाया था इतना होनेपर भी वह आन्दोलन ठंडा पड़ चुका था। विधवाविवाह का समर्थक होना तब भी लज्जा की बात समझी जाती थी।

बात यह है कि विधवाविवाह के विषय में धर्मशास्त्र की दृष्टिसे विचार न हुआ था या बहुत कम हुआ था और उसके समर्थन में भाषा भी पंडिताऊ नहीं थी। साधारणतः समर्थन का रुख यह होता था कि 'विधवाविवाह धर्मविरुद्ध भले ही हो पर वह समय की आवश्य-कता है इसलिये उसका प्रचार होना चाहिये।'

समाज की परिस्थिति जैसी है, वह धर्म से न सही पर धर्म के नाम से जैसी चिपटी है, उसे देखते हुए किसी रूढ़िविरुद्ध बात का धर्मविरुद्ध कहते हुए भी प्रचार करना एक टांग से दौड़ना है। विधवाविवाह के समर्थन में मेरी नीति कुछ जुदी थी मैं उसे धर्मानु-मोदित ही नहीं, जैनधर्म का आवश्यक अंग सिद्ध करना चाहता था। मेरी नीति का तो किसी को पता न था या बहुत कम को

था पर मैं उसका समर्थक हूं यह बात बहुतों को मालूम थी। पर मेरी परिस्थिति कठिन थी। विजातीय विवाह के आन्दोलन के कारण मैं एक जगह से निकाला गया था अब विधवाविवाह के आन्दोलन के कारण भगाया जाऊं अथवा न भगाया जाऊं तो जिन संस्थाओं में काम करता हूं उन को समाज के कोपका शिकार बनाऊं, दो में से किसी एक लिये भी मेरी तैयारी न थी। उधर ब्र. शीतलसादजी पर चारों तरफ से बौछारें पड़ रही थीं अगर उस समय विधवाविवाह के समर्थनमें आन्दोलन नहीं चलाया जाता तो ब्र. जी एक विकट संकट में पड़ जाते, इस बात को कोई सुधारक न चाहता था पर किया क्या जाय।

ब्र. जी के दो-दो तीन-तीन दिन में पत्र आते थे कि 'मुझे धैर्य बँधाइये, आन्दोलन शुरू कीजिये, पंडितों का सामना कीजिये आदि' मेरा भी मन उछल रहा था पर परिस्थिति लगाम खींच रही थी।

वैसे मेरी इच्छा खुद ही किसी ढंग से दो-तीन वर्ष बाद विधवा-विवाह का आन्दोलन उठाने की थी। मुनिवेषियों के साथ भिड़ना शुरू ही किया था। इस मोर्चे को ठिकाने लाने के बाद विधवा-विवाह-आन्दोलन उठाने की इच्छा थी। एक साथ दोनों आन्दोलन चलाने में काम का बोझ तो बढ़ता ही था साथ ही एक साथ सामाजिक विक्षोभ भी इतना बढ़ता था कि उसका सामना करना कठिन था।

पर परिस्थिति कुछ भी हो, अवसर आन्दोलन खड़ा करने का आगया था। इसी समय बैरिस्टर चम्पतराय जी ने विधवा-विवाह के

प्रश्न पर चर्चा करने के लिये ३१ प्रश्न भेजे । वे मैंने जैन-जगत में छपा दिये और लिखा कि विधवा-विवाह के विषय में जैनजगत की नीति मध्यस्थ सरीखी रहेगी, वह दोनों पक्षों के लेख छापेगा।

पर इसके बाद भी गाड़ी अड़ी रही । किसी भी पक्ष का लेख नहीं आया । विरोधी लोग अच्छे ढंग से उन प्रश्नों का उत्तर देने को तैयार न थे और समर्थकों में भी शास्त्रीय दृष्टि से कोई लिखने-वाला न था । मुझे तो दोनों पक्षों के लेखों की जरूरत थी । जैन-जगत की मध्यस्थता या अपनी मध्यस्थता बतलानी थी।

इसके लिये मुझे ही सब स्वांग करने पड़े । विधवाविवाह के विरोध में एक छोटा लेख 'एक धर्मप्रेमी' के नाम से मैंने लिखा। इसके बाद बारी आई विधवाविवाह के समर्थन के लेख की। वह मुझे लिखना था, पर लिखूं किस नाम से ? एकाध सज्जन ने कहा कि आप मेरे नाम का उपयोग कर सकते हैं पर मैं यह जानता था कि एकाध लेख लिखने से काम न चलेगा, यह तो वर्षों का रगड़ा है इसलिये कब तक दूसरों के नाम से लिखूँगा ।

दूसरी बात यह कि इस आन्दोलन के चलाने में जो वर्षों तक पंडिताई का प्रदर्शन होनेवाला था उसका श्रेय दूसरे को कैसे देता ? इतनी उदारता तो शायद आज भी दिखाना पड़े तो आगा पीछा सोचना पड़ेगा फिर उस समय की तो बात ही क्या है।

अन्त में मैंने 'सव्यसाची' नाम रखकर विधवाविवाह के समर्थन में लेख लिखना शुरू किया । इस नाम के रखने में मूल कारण पंडिताई का घमंड था । विजातीयविवाह के आन्दोलन में

मुझे जो सफलता मिली थी उसके कारणों में थोड़े बहुत अंशों में पंडिताई भी थी पर उससे ज्यादा थी श्रमशीलता और सब से जादा था शास्त्रों में विजातीयविवाह का समर्थन । इसलिये विजातीय-विवाह की सफलता में मुझे घमंड करने का पर्याप्त करण न था पर घमंड आगया जरूर, इसलिये जब विधवाविवाह के प्रकरण में पंडितों का सामना करने का अवसर आया तब मैंने "अपना नाम सव्यसाची रक्खा ।

सव्यसाची अर्जुन का नाम है और अर्जुन ऐसा धनुर्धर हुआ है जिसके आगे कोई टिक न सकता था । मेरे सामने कोई टिक नहीं सकता इस घमंड में आकर मैंने अपना नाम भी अर्जुन के समान रक्खा । और अर्जुन के बहुत से नामों में से जो 'सव्यसाची' का चुनाव किया वह घमंड की सीमा थी, उसे विद्यामद तक कहा जा सकता है । सव्य बायें हाथ को कहते हैं अर्जुन बायें हाथ से भी बाण छोड़ सकता था इसलिये उसका नाम सव्यसाची था । मैंने मनमें सोचा कि विरोधियों को मैं बायें हाथ से भी परास्त कर सकता हूं इसलिये मैं सव्यसाची बनगया ।

किसी समय जो मुझमें दीनता थी उसीसे मुझमें यह उन्माद या अहंकार आगया था । और जैसे लोगों से भिड़ना था उनकी मनो-वृत्ति भी इसी तरह की थी इसलिये भी इस क्षुद्रता को उत्तेजन मिला ।

खैर, इस तरह सव्यसाची बनकर विधवाविवाह का खूब समर्थन किया । एक बार कल्याणी देवी के नाम से अपने लेखों का विरोध भी किया फिर बहिन कल्याणी के लेख का सव्यसाची

के नाम से उत्तर दिया। इस प्रकार नाटक के पात्र की तरह नाना रूप धर कर विधवाविवाह प्रचार का खेल खेलना पड़ा।

इस चर्चा में जैनधर्म के अनेक सिद्धान्तों की काफी चर्चा हुई और विधवाविवाह सम्यक्त्व के अनुकूल, अणुव्रत का अंग, सदाचार-पोषक और अनेक तरह से समाज के लिये हितकारी सिद्ध किया गया। यह सब चर्चा श्री जौहरीमलजी सर्राफ दिल्ली ने पुस्तकाकार भी छपाई, करीब ३०० पृष्ठों में यह चर्चा निकली।

दो तीन वर्ष तक मुझे विधवाविवाह पर काफी लिखना पड़ा और जब विरोधियों में कोई विरोध करने के लिये आगे आनेवाला न रहा तभी मैंने भी यह चर्चा ढीली की। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी को जब कोई चैलेञ्ज देता था तब वह मेरे पास आजाता था और फिर वह सब चर्चा मैं निपटता था। इस चर्चा का काफी अच्छा परिणाम हुआ, अब विधवाविवाह के समर्थन में किसीको लज्जा न रही न धर्मविरोध का डर रहा।

इन आन्दोलनों के सिवाय सन् १९३१ तक और भी विशेष आन्दोलन हुए। दिगम्बर जैन-समाज में जो मान्यताएँ थीं उनमें काफी सुधार किया गया। प्रवृत्ति निवृत्ति, लोकाचार का का स्थान, आचार शास्त्र में परिवर्तन, स्त्री-मुक्ति, दिगम्बरत्व, शास्त्रों में आई हुई वैज्ञानिक मान्यताओं की आलोचना आदि को लेकर अनेक लेख लिखे - जगह जगह चर्चा भी की, पुराने भक्तों का घृणापात्र भी बना, पर दृढ़ता और अहंकार का ऐसा मिश्रण होगया था कि निन्दा आदि से डरकर पीछे हटनेमें मौतसे भी

अधिक कष्ट मालूम होता था। बम्बई आने पर चार-पांच वर्ष में काफी आन्दोलन किया, निर्भयता और भी बढ़ गई और ऐसा अनुभव करने लगा कि मैं अब निःप्रतिद्वन्द्व हूँ। अब लिखने का क्षेत्र काफी फैल गया - हर विषय पर निर्भयता और निःसंकोच भाव से कलम चलाने लगा। लिखने के लिये नई नई बातें ढूँढना या लेखन में इतना परिवर्तन करना कि उसमें कुछ नवीनता रहे यह प्रयत्न तो सदा से था। फिर भी कभी कभी यह खयाल आने लगा कि अब तो सब आन्दोलन समाप्त हो गये, कुछ अंशों में वे कार्यपरिणत भी हो रहे हैं उनको उत्तेजन देने के सिवाय कुछ नया आन्दोलन और चाहिये। कुछ ऐसा मालूम होता है कि नये नये आन्दोलन खड़े करने का व्यसन हो गया था। सो मैं इसके लिये नया विषय ढूँढने लगा या यों कहना चाहिये कि अभी मैं अपने ध्येय के मार्ग में ही था इसलिये आगे बढ़ने की कोशिश करने लगा।

आन्दोलनों के विषय में मेरी एक अलग नीति थी। कुछ पुराने सुधारक मेरी इस नीति की आलोचना किया करते थे और उपदेश भी दिया करते थे कि लिखते जाओ कहते जाओ पर उत्तर प्रत्युत्तर खण्डन मण्डन के झगड़े में न पड़ो। मेरे खयाल से यह नीति ठीक नहीं है क्योंकि अपनी बात बोलने पर जब विरोधी उसका खण्डन करते हैं और हम उनके विरोध का उत्तर नहीं देते तो समाज के ऊपर हमारे विचारों की सचाई की छाप नहीं रह जाती। विरोधी लोग यह घोषणा करने लगते हैं कि इन्हें तो जो मन में आया सो बकना है सत्यासत्य का निर्णय थोड़े ही करना

है। दूसरी बात यह है कि जब तक उत्तर-प्रत्युत्तर के लिये हमारी तैयारी नहीं होती तब तक हम किसी विषय में सर्वांगीण विचार नहीं कर पाते। अपनी अपनी हांकने की चिंता में उचित अनुचित का विचार कम रह पाता है। यही कारण है कि पुराने सुधारकों ने बहुत कुछ लिखकर भी अपने विचारों की छाप जैसी चाहिये वैसी नहीं डाल पाई, पुराने पंडितों के दिल पर अपनी छाप न मार पाई।

मेरी नीति हरएक बात पर अन्त तक उत्तर प्रत्युत्तर करने की रही है। इससे समाज के ऊपर तथा विरोधी बन्धुओं के ऊपर तो छाप बैठती ही थी साथ ही सर्वांगीण विचार करने का काफी अवसर भी मिलता था और उसकी चिन्ता रहती थी।

जिस बात का मैं समर्थन करना चाहता, उसका खण्डन मण्डन मैं अपने आप ही कर डालता था। अपने विचारों का विरोधी बनकर पहिले मैं खूब आलोचना करता था और हर एक आलोचना का उत्तर देता था। अगर मुझे यह मालूम पड़े कि मैं इस तर्क का या इस विचार का उत्तर नहीं दे पाता हूं तो ऐसा तर्क या विचार छोड़ देता था। यह सब विचार विचारों को प्रगट करने के पहिले ही कर लेता था इससे बात खूब साफ और यथा-साध्य अकाट्य होती थी। उसकी मजबूती से विचारों का मूल्य भी अधिक बढ़ता था।

कुछ भाइयों का कहना था कि यों विरोधियों का उत्तर कहाँ तक दिया जायगा। वे तो कुछ न कुछ बकते ही रहेंगे हमें तो बहुत सा काम करना है ऐसी चर्चाओंमें उलझकर रह जायेंगे तो कैसे चलेगा ?

मेरा अनुभव इससे उल्टा था साथ ही विचार से भी यह बात ठीक न मालूम होती थी। अनुभव तो मुझे यह हुआ कि उग्र से उग्र विरोधी भी, जहाँ तक मैं स्मरण करता हूं, मुझे कोई ऐसा न मिला जो उत्तर प्रत्युत्तर में [लिखने में] तीनबार से अधिक टिका हो। तीसरी बार में प्रायः सभी चुप हुए। इस प्रकार असीम चर्चा का अवसर नहीं आया।

विचार यह है कि अगर हमारे पक्षमें सचाई है तो विरोधी को दो तीनबार की चर्चा के बाद मौन रहना पड़ेगा, अथवा उसे ऐसा निरर्गल प्रलापी या टालबाज बनना पड़ेगा कि जो उस चर्चा को पढ़ेगा वही उसकी कमजोरी को समझ लेगा। जब अपनी बात इतनी साफ सिद्ध होजाय कि विरोधी के समर्थन न करने पर भी साधारण जनता पर अपने विचारों की छाप लग जाय [भले ही वह माने या न माने] तो वहाँ चर्चा छोड़ी जा सकती है। विरोधी दुनिया को सरलता से धोखा दे सकता है पर अपने को ऐसी सरलतासे धोखा नहीं दे सकता। इसलिये अपने युक्तियुक्त उत्तरों का असर विरोधी पर पड़ता ही है और उसकी छाया किसी न किसी रूपमें चारों तरफ फैलती है। इस प्रकार किसी एक चर्चा में जबर्दस्त प्रतिद्वन्दियों का उत्तर देकर आगे बढ़ना ठीक होता है। विजातीयविवाह विधवाविवाह जैनधर्म का मर्म, आदि आन्दोलनों में मैंने इसी नीति से काम लिया। अपनी बात कहना, विरोयों को उस पर खूब विचार करने देना, उनके वक्तव्य की उपेक्षा न करना, तत्वनिर्णय और तत्वप्रचार दोनों दृष्टियों से उपयोगी है।

हां, एक बात अवश्य है कि चर्चा के पीछे जहां कोई विधायक कार्यक्रम हो वहां कुछ समय की चर्चा के बाद और एक निःपक्ष विचारक को विचार की काफ़ी सामग्री देने के बाद विधायक कार्यक्रम को अमल में लाने की कोशिश भी करना चाहिये। क्योंकि बहुतसी बातें ऐसी होती हैं कि जब तक उन्हें कार्यपरिणत न करो तब तक विरोध बना ही रहता है। विजातीय-विवाह विधवाविवाह के आन्दोलन इसी ढंग के थे। इसलिये बाद में उन्हें क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न भी हुआ। फिर भी हर हालत में दूसरों को चर्चा का अवसर देना और उनकी बात पर उपेक्षा न करना आवश्यक है।

हां, किसी विषयमें गम्भीर चर्चा होजाने के बाद कुछ विरोधी लोग पिष्टपेषण आदि निरर्थक चर्चा करते रहते हैं उनपर उपेक्षा की जासकती है पर कोई नई युक्ति आवे उसपर उपेक्षा न करना चाहिये।

आज देशमें ऐसे भी व्यक्ति हैं जो अपने अनुभव की दुहाई देकर तथा विरोधी के वक्तव्यों पर पूरी उपेक्षा करके अपनी बात दुनिया के सामने रखते हैं उस में वे कुछ न कुछ सफल भी होते हैं फिर भी मेरी नीति वही है जो ऊपर लिख आया हूं

अनुभव की दुहाई या दूसरे मत की उपेक्षा के विषय में मेरे ये विचार रहे हैं।

१—अनुभव की दुहाई वहाँ असरकारक होती है जहाँ मनुष्य अपने अनेक विचारों को कार्यपरिणत कर चुका होता है और उनकी सफलता की छाप दुनिया पर बैठी होती है।

२—ऐसे लोग भी जब भीतर की आवाज आदि की दुहाई देकर अपनी बात कहते हैं और विचार का पूरा अवसर नहीं देते तब उनसे पहाड़ सरीखी भूलें हो जाया करतीं हैं वे अपनी भूलों को स्वीकार करके दुनिया पर अपनी नम्रता तो लाद सकते हैं पर भूलों के दुष्परिणाम को नहीं रोक सकते।

३—जहाँ अधिक तर्क वितर्क का अवसर न हो, तुरंत ही कुछ न कुछ कर्तव्य करना हो, जैसे युद्ध के मोर्चे पर, वहाँ सिर्फ अनुभव आदि से काम चलजाता है गुप्त रहस्य में भी यही बात है।

४—जिन बातों पर अनेक पहलुओंसे गम्भीरतापूर्वक विचार किया जा चुका है उन्हीं को जब कोई फिर फिर लाता है उस में कोई नई बात नहीं होती तब उपेक्षा करना पड़ती है।

मतलब यह कि विरोधी और मध्यस्थों को बोलने के लिये कम से कम अवसर देना, कुछ समय बाद विचारों को कार्यपरिणत करने की कोशिश करना अन्दोलन के विषय में मेरी नीति थी।

आन्दोलन करने के जितने साधन मेरे पास थे उन सबका उपयोग मैं करता था। चर्चा व्याख्यान आदि की अपेक्षा लेखन ही सबसे बड़ा साधन था। पर लेखन के ढंग नाना थे। कविता, कहानियाँ, ऐतिहासिक अर्ध ऐतिहासिक घटनाओं का अपने रंग से चित्रण, संवाद, टिप्पणियाँ लेख आदि जितने ढंग से लिखकर मौलिकता लाई जा सकती थी मैं लाने की कोशिश करता था। बीच में मैंने ‘धर्मरहस्यम्’ नामका एक संस्कृत पद्यमय ग्रंथ लिखना शुरु किया जिसमें गौतम और श्रेणिक के संवाद के रूप

में जातिपाँति वर्णव्यवस्था आदि पर काफी चर्चा थी। चर्चा कुछ दिलचस्प भी थी और गंभीर तथा मौलिक भी थी, फिर भी उसके दो तीन सौ श्लोक बनाकर ही रह गया, क्योंकि गौतम के मुँह से भविष्य कहलाया गया था पर बाद में भविष्य कहलाना मुझे ठीक न मालूम हुआ, क्योंकि ऐसे अलौकिक ज्ञानों की अन्धश्रद्धापूर्ण मान्यता गौणरूप में भी प्रगट करना मुझे अरुचिकर होगया था। दूसरी बात यह कि आन्दोलन का क्षेत्र बढ़ जाने से उस संकुचित चर्चा के विषय में लिखने से जी ऊब गया था।

धर्मरहस्यम् पन्द्रह पन्द्रह बीस बीस श्लोक के टुकड़ों में पत्र में प्रकाशित होता था साथ में अनुवाद और भावार्थ भी होता था। यद्यपि मैं संस्कृत और प्राकृत में ग्रन्थरचना का विरोधी हूं फिर भी 'जैसे को तैसे' की नीति के अनुसार चाल चलने के लिये मैंने यह तूफान खड़ा किया।

संस्कृत में ग्रंथ लिखा जाय और उसमें गौतम गणधर के मुँह से सुधारकों की तारीफ कराई जाय उनके मत का समर्थन कराया जाय स्थितिपालकों की मूढ़ता को कोसाजाय, यह सब तूफान ही था।

जैन शास्त्रों में शास्त्र की परिभाषा कुछ भी लिखी हो पर जनसाधारण का इस विषय में इतना पतन होगया है [उसमें विद्वानों का भी समावेश किया जा सकता है] कि शास्त्र की परिभाषा उनकी नजर में यही रह गई है कि जो ग्रंथ संस्कृत या प्राकृत भाषा में बना हो, जिसमें जिनेन्द्र को नमस्कार किया गया हो और बनानेवाला मर गया हो वह शास्त्र। मैंने धर्मरहस्यम् बनाकर शास्त्र

की दो शर्तें तो पूरी तरह कर ही दी थीं, रह गई थी तीसरी शर्त मरने की, सो सोचता था अपनी मौत से या इन आन्दोलनों से पैदा होनेवाले विक्षोभ से मारे जाने के कारण मरना तो है ही, बस मर जाने पर तीसरी शर्त भी पूरी होजायगी इस प्रकार पिछले हजार वर्ष में जो विकृत शास्त्र बनगये हैं संस्कृत में जो जाली ग्रंथ रचना हुई है उसकी प्रामाणिकता की कलई खुल जायँगी। शास्त्र से शास्त्र लड़ाकर युक्ति तर्क के लिये मैदान साफ कर दिया जायगा।

जैनधर्म में परीक्षकता पर इतना जोर दिया गया है कि दि. जैन समाज में शास्त्रों की ऐसी परिभाषा बन जाना आश्चर्य की बात है। यह परिभाषा यद्यपि लिखी नहीं गई पर व्यवहार में मानी अवश्य गई। इसीलिये जब धर्मरहस्यम् निकला तब बड़ी घबराहट फैली, इस अनर्थ (?) को रोकने के लिये बड़े बड़े अनुरोध पत्र और धमकी के पत्र आने लगे। सेठ ताराचन्दजी पर जोर डाला गया कि वे इस अनर्थ को रुकवावें। पर न तो ताराचन्दजी के विचार मुझ से भिन्न रह गये थे, न मेरी प्रकृति ऐसी थी कि इस प्रकार दबाव में आकर धर्मरहस्य लिखना रोकदूं। इसलिये कई महीने तक मैं लिखता रहा और विरोधी बन्धु भी कलिकाल आदि की दुहाई देकर और धर्मनाश (?) अनिवार्य समझकर चुप बैठ गये।

इन आन्दोलनों ने मुझे विचारक बनने, उत्तर प्रत्युत्तर करने, धमकी में न आने आदि की बहुत बातें सिखाईं, हिम्मत भी बढ़ी, समाज का मनोवैज्ञानिक अनुभव भी हुआ, लेखनी का वशीकरण भी कुछ होगया।

मेरे जीवन की कली आखिर थी ही कितनी सी, इसलिये उसका फूल भी छोटा सा बना, पर उसको खिलने का बहुतसा श्रेय इन आन्दोलनों को दिया जा सकता है।

[२४] जैनधर्म का मर्म

बम्बई में आनेपर तीनों सम्प्रदायों से मेरा गहरा ताल्लुक होगया था। स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुखपत्र जैनप्रकाश का तो मुख्य लेखक था और करीब दस वर्ष तक अर्थात् जब तक मुम्बई रहा तब तक मुख्य लेखक रहा इसलिये स्थानकवासी समाज की समस्याएँ और उन लोगों की मनोवृत्तियों से काफी परिचित हुआ। मूर्त्तिपूजक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्यालय में न्याय और मागधी तथा धर्मशास्त्र का अध्यापक था इसलिये उनसे भी काफी परिचय बढ़ा, दिगम्बर समाज से तो जन्म का ही परिचय था।

एक तो बम्बई आने के पहिले ही कुछ विचारकता और निष्पक्षता आगई थी, इन्दोर में ही मैं स्थानकवासी और मूर्त्तिपूजक श्वेताम्बर साधुओं से मिलता जुलता था। बंबई आनेपर तीनों सम्प्रदाय के साहित्य देखने से विचारकता तथा निष्पक्षता को और भी पुष्टि मिली और एक समय ऐसा आगया कि जब मुझे तीनों सम्प्रदायों में विकार नजर आने लगे और यह सोचने लगा कि तीनों में जैनत्व है पर वह तीनों में विकृत है, इसलिये मेरा ध्यान इस तरफ जाने लगा कि तीनों सम्प्रदायों की एकता कैसे की जाय और तीनों में आये हुए विकार कैसे हटाये जाँय।

इसी बात को लेकर अहमदाबाद की पर्युषण व्याख्यान माला में मैंने तीनों सम्प्रदायों की एकता पर व्याख्यान दिया। उसमें मत-भेदों को गौणकर या समन्वय करके तीनों सम्प्रदायों को मिलाकर एक जैनत्व पर जोर दिया गया था। अब मैं आन्दोलन के लिये ऐसा ही कोई विषय चाहता था। जैनधर्म के गहरे अध्ययन से मैं इस निश्चय पर पहुँच गया था कि आज के वैज्ञानिक युग में ये पुराने धर्म अपने ज्यों के त्यों रूपमें टिक नहीं सकते। भूगोल आदि का प्रश्न सामने आनेपर जैन विद्वानों को किस प्रकार बगलें झांकना पड़तीं हैं यह मैं छोटे से ही देखता आता था, प्राणिशास्त्र की खोज अब इतनी हुई है कि पुरानी मान्यताएँ बहुत सी बदलना पड़ेंगीं, द्रव्यक्षेत्र काल भाव भी ऐसा बदल गया है कि जैनाचार के पुराने नियम अब उतने उपयोगी नहीं हैं, कालमोह आदि के कारण भी जैन शास्त्रों में विकार घुस गये हैं यह भी समझता था। यह सब था पर जैन संस्कारों में जन्म से ही रहने के कारण जैनधर्म का मोह बहुत था। महावीर स्वामी पर असाधारण भक्ति थी इसलिये मन ही मन सोचा करता था कि मेरा जैनधर्म ऐसा अकाट्य बन जाय कि कट्टर से कट्टर नास्तिक और बड़े से बड़ा वैज्ञानिक उसका खण्डन न कर सके; ऐसा विशाल बन जाय कि एशिया यूरुप आदि सभी देशों के लोग उसे अपनासकें; ऐसा सुधरजाय कि आज की परिस्थिति के लिये बिलकुल मौजूं हो।

एक तरफ निष्पक्ष विचारकता दूसरी तरफ जैनधर्म का मोह दोनों की गुजर कैसे हो इसी चिन्ता में रहनेलगा। इतने में एकबार कलकत्ते के बाबू छोटेलाल जी सेठ ताराचन्द जी के यहाँ बैठे थे

अकस्मात् मैं भी पहुँच गया, उनने जैनधर्म के विषय में कुछ प्रश्न किये। मैंने कहा-साधारणतः इन प्रश्नोंके विषय में जैन पंडितों का जैसा उत्तर होता है वैसा ही उत्तर दूं या अपने नये विचारोंके ढंग से उत्तर दूं। उनने कहा- पुराने ढँग के उत्तर तो मैं बहुत सुन चुका हूं मैं आपके स्वतंत्र विचार सुनना चाहता हूं। जब मैंने नये ढंग से उत्तर दिये तब वे बहुत प्रसन्न और चकित हुये। उनने कहा-आप तो अपने असाधारण विचार इस तरह क्यों छिपाये हुये हैं इन्हें समाज के सामने क्यों नहीं लाते ?

मैंने कहा कि जैनधर्म के सभी अनुयोगों के विषय में मेरे खास और गम्भीर विचार हैं। आज तक समाजसुधार आदि के विषय में जो मैंने गम्भीर विचार समाज के सामने रक्खे हैं उनपर मैंने वर्षों चुपचाप विचार किया है फिर पूरा निश्चय होजाने पर और काफी प्रमाण एकत्रित होनेपर मैंने उन्हें समाज के सामने रक्खा है। जैनधर्म के विषय में जो मैं विचार प्रगट करने वाला हूं वे आज तक के विचारों से कई गुणे क्रान्तिकारी हैं इसलिये उन्हें प्रगट करने में और भी अधिक सावधानी रखना चाहता हूं पांच वर्ष बाद मैं वे विचार समाज के सामने रक्खूंगा।

'पाँच वर्ष !' नहीं साहिब, पांच वर्ष बहुत होते हैं आप को अगर फिर विचार करना है तो खुशी से कीजिये पर एक बार उन्हें समाज के सामने रख तो दीजिये फिर उनपर जब चर्चा चले तब उसपर विचार करके आप फिर सुधार करना। पांच वर्ष तक आप इन विचारों को रोककर रक्खेंगे, लेकिन न जाने पांच वर्ष में क्या हो ?

उनका भाव मैं अच्छी तरह समझ गया । मेरे सब विचारों को जानने की उत्सुकता और उस उत्सुकता से पैदा होनेवाला आकस्मिक विघ्न का भय, उनकी उतावली का कारण था । पर पांच वर्ष की बाट देखने के मेरे बहाने में जो कारण थे उनका उल्लेख मैं न कर सका । पहिली बात यह थी कि मैं जानता था कि इन विचारों के प्रगट कर देने पर मुझे फिर आजीविका से हाथ धोना पड़ेगा इसलिये सोचता था कि पांच वर्ष और निकल जाँय तो मैं आर्थिक दृष्टि से इतना समर्थ होजाऊंगा कि नौकरी किये बिना अपनी गरीबी गुजर सकूंगा ।

दूसरी बात यह थी कि आज तक मैंने जितने आन्दोलन किये थे उनमें पूरा निर्णय किये बिना कोई बात नहीं लिखी थी इसलिये अधिक से अधिक और ऊँचे से ऊंचे विरोधियों के रहने पर भी मैं अपनी बातपर दृढ़ रह सका था, अन्ततक उसका समर्थन भी कर सका था । अब अगर ऐसी बातें लिखने लगूं जिन्हें कल बदलना पड़े तो इससे कुछ घमंड को ठेस पहुंचती थी ।

यद्यपि मैं परिवर्तन करने और सत्य को ग्रहण करने को तैयार था पर अनेक कारणों से ऐसा घमंड आगया था कि जो सत्य कल दूसरों के सुझाने से मानना पड़ेगा उसे कुछ समय ठहर कर मैं ही क्यों न खोज निकालूं । इस प्रकार आज तक जमाई हुई धाक की रक्षा, यशोलोलुपता अहंकार आदि अनेक कारण ऐसे थे कि मैं पूरा विचार किये बिना लेखमाला लिखने को तैयार न था ।

यद्यपि ये दोनों कमजोरियाँ मैं श्री छोटेलालजी से न कह सका फिर भी मैंने स्वीकारता दे दी । क्योंकि उनकी यह बात

मुझे भी जची कि पांच साल में न जाने क्या हो ? पर मैंने यह सोच लिया कि लेखमाला पूर्ण विचार के साथ लिखी जायगी। दूसरों की पकड़ में साधारणतः कोई बात आसके ऐसी बात न लिखूंगा।

लेखमाला लिखे जाने के दो ढाई वर्ष पहिले डायरी में मैंने लेखमाला ~~की~~ रूपरेखा और कुछ विचार नोट करके लिख लिये थे। उनपर मैं समय समय पर विचार करता रहता था और नये विचार भी जोड़ता रहता था। अगर बाबू छोटेलालजी से चर्चा न होती तो इन्हीं नोटों के आधार से चार पांच वर्ष बाद लेखमाला लिखी जाती पर अब उसके बहुत पहिले ही लेखमाला लिखना निश्चित होगया।

लेखमाला की घोषणा कुछ महीने पहिले ही कर दी गई। दो लेख सामान्य व्याख्यापर थे इसलिये तो कुछ गड़गड़ न मची पर तीसरे लेख के निकलते ही तहलका मच गया उसमें जैनधर्म की प्राचीनता पर हमला सा किया गया था। फिर आगे के लेख, सर्वज्ञता आदि का वर्णन तो मानों जले पर नमक छिड़कते रहे। इससे प्रचंड सुधारक कहलानेवाले भी मुझसे घृणा करने लगे।

आज तक जिनको मैं प्रचंड सुधारक और निष्पक्ष विचारक समझता था उन्होंने सब से ज्यादा आक्रमण किया। मैंने देखा कि उनके विरोध में और पुराने पंडितों के विरोध में कोई फर्क नहीं है। बड़े बड़े सुधारकों ने भी मतभेद को शत्रुता समझा। मेरा कहीं सन्मान न हो जाय, कोई मुझे व्याख्यान के लिये न बुलाले, जहां मेरी आजीविका थी वहां से छुड़ादी जाय तो अच्छा, इसका प्रयत्न अच्छे अच्छे सुधारकों ने भी किया, पत्र पढ़ना तथा मँगाना भी बन्द किया, कराया,

श्रीमानों पर अपना दबाव डालकर पत्र बन्द कराना चाहा, मेरे मित्रों सहयोगियों पर भी दबाव डाला, अन्त में प्रकाशक जी को फुसलाने की चेष्टा की कि वे मेरे लेख न छापें। जब किसी भी तरह सफलता न मिली, तब मेरी निन्दा करके या कुछ गालियाँ देकर सन्तोष माना। सुधारक कहलानेवालों का यह रुख देखकर मैं चकित होगया। मैं आशा करता था कि इनसे लेखमाला का समर्थन होगा पर वे उग्र से उग्र विरोधी निकले।

इस निराशा को जीतनेका एक बड़ा भारी सहारा यह था कि मैं भावुक था, जो कि अब भी हूं। मैं सोचता था कि जीते जी दुनिया ने किसी को अच्छी तरह कब माना है? ईसा आदि बड़े बड़े महापुरुषों ने भी निन्दा ही पाई थी पर आज वे अमर हैं। मैं उनका शतांश भी बन सका तो मेरा जीवन सफल है। बस, सफलता के इसी कल्पित स्वप्न में मस्त होकर मैं घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्रों के निन्दा-वाक्य या उत्साह-नाशक वाक्य सह जाता था और जो विचार करने पर ठीक लगता था वही करता था। गुजराती का यह पद्यांश बहुतबार पढ़ा करता था।

लोकोनी अपकीर्तिमां हृदयनी साची ज कीर्ती बसे।

सो हृदय की सच्ची कीर्त्ति की धुन में लापर्वाही बढ़ाता जाता। इस दृढ़ताको बहुतसे लोग मेरा अभिमान समझते थे, बल्कि मुझे हठी समझते थे। मुझे हठी समझनेवालों में मेरे सहयोगी और स्नेही मित्र भी थे। जब उनसे कोई कहता कि आप पंडितजी को [मुझे] समझाइये तब वे हँसकर कहते-पंडितजी तो भगवान

की बात भी मानने को तैयार नहीं हैं । यद्यपि मैंने हठ से बचने की काफ़ी कोशिश की है फिर भी खूब दृढ़ विचार प्रगट करने का ही खयाल रहा है इसलिये अपनी दृढ़ता को हठ से अलग बता सकने का अवसर नहीं पाया या कम पाया अथवा यों कहना चाहिये कि मैं हठ और दृढ़ता का भेद बतलाने में अयोग्य साबित हुआ ।

खैर, निन्दा स्तुति की चिन्ता न करके जैनधर्म को अकाट्य और सामयिक बनाने के लिये मैंने काफी कोशिश की । और उसीका फल था जैनधर्म का मर्म ।

पुस्तकाकार छपाते समय इसका नाम जैनधर्ममीमांसा कर दिया गया क्योंकि पुस्तक इतनी विशाल हो गई थी कि उसे मीमांसा कहना ही ठीक मालूम हुआ ।

२५ सत्यसमाजकी स्थापना

यद्यपि सत्यसमाज की कल्पना सन् १९२४ में ही दिल में आगई थी पर उस समय सत्य-समाज के उस रूप की कल्पना नहीं थी जो पीछे दिखाई दिया । उस समय मेरी कल्पना की दौड़ अधिक से अधिक जैन-धर्म-मीमांसा तक ही थी । जैन-धर्म को संशोधित करना और उस संशोधित जैन-धर्म के प्रचार के लिये सत्य-समाज की स्थापना करना ऐसा ही कुछ अस्पष्ट रूप उस समय था । कदाचित् सब धर्मों का खण्डन करके नया धर्म बनाने का भी विचार हो पर सत्य-समाज के वर्तमान रूप का उस समय ध्यान नहीं था। हां, उसके लिये आजीविका छोड़कर एक प्रकार का संन्यास या अर्धसंन्यास लेनेका विचार उस समय अवश्य था । फिर भी इसकी

अवधि नहीं थी कि वह मांगलिक अवसर कब आयगा। पर 'जैन-धर्म का मर्म' लिखना प्रारम्भ करने के बाद अकस्मात् एक बार उस मांगलिक अवसर का निश्चय होगया।

स्थानकवासी जैन मुनि श्री चैतन्यजी और उनके पिता मुनि कल्याणजी (जिनने कि अब जनसेवा के लिये मुनिवेष छोड़दिया है) मेरे लेखों को बहुत पसन्द करते थे, और बड़े चाव से पढ़ते थे। एक बार जब कि वे ब्यावर में ठहरे हुए थे मेरे विचारों के प्रचार के लिये तथा मुझ से चर्चा करने के लिये उनने मुझे ब्यावर बुलाया। ब्यावर में मेरे काफी व्याख्यान हुए। मेरे स्वतन्त्र विचार भी लोगों ने बड़े शौक से सुने, इतना ही नहीं उनकी तारीफ भी की, मानपत्र दिया, इन सब बातों का मेरे दिलपर बड़ा प्रभाव पड़ा। मैं इतना समझा कि मेरे विचारोंको समाजमें जगह है। अगर इस तरह प्रचार किया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि इन विचारों को माननेवाला एक विशाल दल बन सकता है। उस समय मुझे मालूम नहीं था कि समाज उदारता की बातें सुनना जितना पसन्द करता है उतना पालन करना पसन्द नहीं करता।

पर यह सब मुझे नहीं मालूम था यह बहुत ही अच्छा था। क्योंकि मैंने तो अपने लिये इससे उत्साह ही पाया, और मेरा दिल आगे बढ़ने के लिये, सर्वस्व त्यागकर अर्धसंन्यासी बनकर प्रचार करने के लिये लालायित होने लगा।

पर आखिर था बनिये का बच्चा, जोश में आकर इकदम कूद पड़ना बनियाई नहीं है, इसलिये इकदम न कूदा। यह प्रतिज्ञा करली कि पांच वर्ष में नौकरी छोड़कर इस काम में लग जाऊंगा।

लेकिन कुछ दिन बाद ही यह विचार जोर पकड़ने लगा कि अब नौकरी छोड़ना चाहिये। मैंने पत्नी से यह विचार प्रगट किया। शान्ता (पत्नी) ने कहा-नौकरी छोड़ने में तो कोई हर्ज नहीं है पर रोटियों के लिये किसी का आश्रित न होना पड़े इसका उपाय करलेना चाहिये। इसके लिये ऐसा करो कि जब दस हजार रुपये अपने पास होजायें तब नौकरी छोड़ देना।

मैंने पत्नी की बात का समर्थन करते हुए कहा कि जब दस हजार रुपया इकट्ठा होजायगा तब नौकरी छोड़ दी जायगी किन्तु अगर कुछ कम भी रहे और पांच वर्ष पूरे होगये तो भी नौकरी छोड़ दी जायगी। पत्नीने इसे मंजूर किया। इस प्रकार जून १९३७ नौकरी की अंतिम अवधि बनगई।

इस प्रकार सत्य-समाज की स्थापना के बहुत पहिले ही सत्य-समाज की स्थापना की बाह्य भूमिका बनने लगी। इसका श्रेय जैन-धर्म मीमांसा को ही है।

बाह्य भूमिका की तरह अभ्यन्तर भूमिका का श्रेय भी जैन-धर्म-मीमांसा को ही है। क्योंकि जब मैं जैन-धर्म-का संशोधन करने लगा तब उसमें दो काम किया करता था-जो अनुचित मालूम होता था वह निकाल दिया करता था और जो आवश्यक मालूम हुआ करता था वह जोड़ दिया करता था। इस प्रकार काम करने से मनमें यह विचार आने लगा कि इस प्रकार संशोधन करने से तो सभी धर्म एक से होजाँयगे। नैतिक उपदेश तो सभी धर्मों में पाये जाते हैं और विकार सब में आगये हैं इस प्रकार सब धर्म समान हैं तब जैन-धर्म की ही वकालत क्यों करूं ?

ये विचार मन में घूमने लगे पर इन को तुरंत व्यक्त न कर सका । कुछ महिनों तक ये विचार मन में ही रहे । कभी कभी कुछ विशेष विचार कर लेता अन्यथा सारी शक्ति जैनधर्म का मर्म लिखने में जाती

इतने में पर्युषण पर्व आया । उस वर्ष अहमदाबाद की तरह बम्बई में भी एक व्याख्यानमाला की योजना हुई । मुझे लगा कि अपने ये विचार इस व्याख्यानमाला में ही रक्खूं । इसलिये मैंने व्याख्यान का विषय चुना ' धर्मों में भिन्नता ' ।

मेरी दृष्टि में ये विचार काफी क्रान्तिकारी थे । मुझे डर था कि इस विषय में कुछ ऐसी भूल न हो जाय जिससे विचारों की हँसी उड़ाई जाने लगे । इसलिये व्याख्यान के पहिले दो बजे रात तक बैठकर मैंने वह व्याख्यान लिख डाला । साधारणतः मैं कभी लिखकर व्याख्यान नहीं देता । मेरा वह पहिला व्याख्यान था जो मैंने लिखकर दिया था और आजतक शायद वही अंतिम है ।

व्याख्यान में कई नई बातें थीं । यद्यपि उस समय मुझे सत्यसमाज का स्वप्न भी नहीं था पर सत्यसमाज का मूल उस व्याख्यान को ही कहा जा सकता है । उस व्याख्यान की काफी तारीफ हुई बहुत से मित्रोंने उसे आशातीत मौलिक, एकदम नया कहा मुझे भी ऐसा माळूम हुआ कि मैंने जीवन का पथ पा लिया है ।

उस व्याख्यान के बाद भी दो वर्ष और निकले । जैनधर्म का मर्म तो लिखता रहा पर सर्वधर्म समभावका चिन्तन विशेष जोर पकड़ता गया ।

समभाव के ये विचार दो वर्ष तक पकते रहे और अन्त में उनने सत्य-समाज का रूप धारण कर लिया। सामाजिक आन्दोलन की सफलता के लिये एक संगठन की आवश्यकता थी, इधर स्वतंत्र विचारों को मूर्तिमान रूप भी देना था इसलिये सत्य-समाज सरीखे एक समाज की स्थापना करना आवश्यक होगया। एकदिन रातभर बैठकर सत्य-समाज की रूपरेखा बनाडाली। उसमें सदस्यों की तीन श्रेणियाँ सत्यमन्दिर आदि सभी बातों का उल्लेख था।

पर इस नये समाजके लिये ठीक नाम न सूझा। सन् १९२४ में सत्य-समाज नाम सूझा था पर फिर वह याद ही न आया। इसलिये सत्यशोधक समाज नाम से इस की स्थापना की गई। जिस रातको वह स्कीम बनी वह रात्रि भी मेरे जीवन की महत्वपूर्ण रात्रियों में से है, एक तरह से वह सब से अधिक महत्वपूर्ण है पर उसकी भी तिथि याद नहीं आरही है। हां, यह योजना भाद्रपद शुक्ला ८ वीर संवत् २४६० या १६ सितम्बर सन् १९३४ के अंक में प्रकाशित हुई इसलिये यही दिन सत्याष्टमी के रूपमें पर्वदिन मानलिया गया।

योजना के प्रकाशित होने के चार छः दिन पहिले ही बार्शी के सेठ चुन्नीलालजी कोटेचा का पत्र आया था कि एक नये समाज की आवश्यकता है आप नया समाज स्थापित करें तो बड़ी कृपा हो। मैंने उन्हें लिखा कि नये समाज की योजना छप रही है दो तीन दिन में आपके पास पहुंचेगी। योजना जब पहुँची तब उनने लिखा कि सत्य-शोधकसमाज तो एक दक्षिण भारत में है कोई दूसरा नाम रखिये। बाकी योजना बहुत अच्छी है।

दो एक महाराष्ट्री सज्जनों से भी दक्षिण के सत्य-शोधक-समाज का पता मुझे मिलगया था, इसलिये नाम बदलने की चिन्ता मुझे भी हुई पर सत्य शब्द बड़ा प्यारा था और समाज भी चाहिये था इसलिये शोधक की जगह ही सेवक आदि नाम डाला जा सकता था पर पीछे यही ठीक मालूम हुआ कि शोधक या सेवक कुछ न डाला जाय और सत्य-समाज ही नाम रहने दिया जाय, सो यही नाम रहा।

सत्य-समाज की रूप रेखा काफ़ी साफ थी फिर भी उसके महत्व को बहुत कम लोगों ने समझा इसलिये बहुत से आदमी जो तुरंत सदस्य बनगये थे शाखा बना बैठे थे वे उत्साह ठंडा होजाने पर या उत्तरदायित्व का बोझ मालूम होनेपर हटने लगे, कुछ ने यह भी कहा कि हम नहीं समझते थे कि ऐसा होगा। यद्यपि मूलमें ही संघटनामें वे बातें थीं पर उसकी विशालता आदि को बहुत कम ने समझ पाया था। हां, श्री चुन्नीलालजी, सूरजचन्द, रघुवीरशरण, आनन्द श्री रघुनन्दनप्रसाद जी आदि शुरू से ही आज तक दृढ़ हैं उनकी अनुरक्ति भी बढ़ती रही है पर बहुभाग ढीला पड़ता गया और नये नये लोग भी आते गये। उत्तरदायित्व का भान कराने के लिये उसके कुछ बाहरी नियम भी बदलते गये।

सत्य-समाज की स्थापना समस्त सुधारों का संग्रहात्मक संस्करण है और उसमें अन्य अनेक सुधारों तथा क्रान्तियों का बीज भी रक्खा गया है। इसकी स्थापना से मैंने एक प्रकार की मुक्तता का अनुभव किया है।

सौ. शान्तादेवी सत्यभक्त

२६ पत्नी वियोग

एक दिन सोकर उठा तो पत्नीने कहा-आज मेरे दाहिने हाथ में दर्द है। मैंने जरा नजर डालकर कहा-थोड़ा मालिस करने से अच्छा हो जायगा। उस समय कल्पना भी नहीं थी कि यह मौत का दूत है इसलिये कई दिन मालिस करने और सेक करने पर भी अच्छा न हुआ। डाक्टरों के पास लेगया, वैद्यों को दिखाया, सबने कहा गूमड़ा होगा पककर फूटकर साफ हो जायगा। कुछ चिन्ता हुई, सोचा कुछ दिन लगेंगे। पर बहुत दिन तक वह पका ही नहीं, किसी ने कहा यह ऐसा फोड़ा है जिसमें मुँह नहीं होता या भीतर मुँह होता है जरा खराब है काफी कष्ट देता है। चिन्ता बढ़ी, पर सिर्फ इसीलिये कि परेशानी लम्बी होगी। अन्त में पुलटिस बाँध बाँधकर पकाया और नश्तर लगवा दिया। अब सोचा-चलो पाप कटा, दस पन्द्रह दिनमें भरजायगा। पर अच्छा न हुआ। बाद में हरकिसनदास हास्पिटल में रक्खा अच्छे से अच्छे डाक्कर ने आपरेशन किया फिर भी अच्छा न हुआ। फिर दो बार आपरेशन हुआ हाथ और कन्धे में जोड़ की हड्डियाँ दोनों तरफ से थोड़ी थोड़ी काट डाली गईं फिर भी अच्छा न हुआ। पर किसी डाक्टर ने यह न बताया कि बीमारी क्या है। घाव बना ही रहा। इसी बीच शान्ता ने कहा-मेरी कमर के नीचे दाहिने तरफ कुछ दर्द रहता है। मैंने डाक्टर से कहा। डाक्टर ने कहा-चिन्ता नहीं सब ठीक हो जायगा। उस समय भी मुझे न मालूम हुआ कि यह भी एक मौतका परवाना है। मानों विधाता को यह मालूम होगया हो कि इस मामले

में रोगी से और रोगी के अभिभावक से बहुत लड़ना पड़ेगा इसलिये दोनों तरफ से आक्रमण करना चाहिये ।

बम्बई की चिकित्सा से निराश होकर शान्ता को मिरज ले गया वहाँ पम्प से एक सेर से भी अधिक पीप कमर के घाव में से निकाली गई और दवा भरदी गई, वहां भी यह न बताया गया कि बीमारी क्या है । पर मिरज के डाक्टरी स्कूल के एक अध्यापक से कुछ परिचय हो गया था उनने बताया कि शान्ता को अस्तिक्षय की बीमारी है । कमर के पास जो घाव था वह रीढ़ के क्षय का था ।

अब कहीं मैं उस गम्भीरता को समझ सका । डाक्टरों की इस नीतिपर मुझे बड़ा खेद हुआ कि उनने बीमारी का पता अभी तक मुझे नहीं दिया । फीस ले लेकर भी यही कहते रहे कि फोड़ा है अच्छा होजायगा । उनने शायद यह समझकर कि बीमार का अभिभावक घबरा न जाय, नाम न बताया होगा पर उनकी इस मूर्खतापूर्ण दयालुता का परिणाम यह आया कि उनके हाथों से एक प्राणी की दुर्दशा होगई या हत्या ही होगई । बहुत से डाक्टर, जिनमें बड़े बड़े डाक्टर भी शामिल किये जा सकते हैं, अपनी अपूर्णता को भी नहीं समझना चाहते वे शायद यह भी नहीं सोचना चाहते कि उनकी चिकित्सा के सिवाय भी चिकित्सा है और रोगी के अभिभावक को रोग का ठीक ठीक परिचय देकर उसे इच्छानुसार चिकित्सा का अवसर देना चाहिये ।

हरकिसनदास हास्पिटल में ऊँचे डाक्टर थे । एम.बी.बी.एस तो वहां कम्पाउन्डर सरीखा काम करते थे । अपरेशन आदि करने

के लिये एफ. आर. सी. एस. डाक्टर थे, उन में भी चुने हुये, फिर भी वे अपनी पंडिताई की धुन में अस्थिक्षय के केस का अपरेशन करते रहे। उन की इस नासमझी, प्रमाद या अहंकार को क्या कहा जाय ? अस्थिक्षय में घाव के ऊपर से भी अगर हड्डी काटी जाय तो भी लाभ होने की कम सम्भावना रहती है फिर आसपासकी हड्डी छील देने से क्या लाभ ? अपेरशन ने शान्ता के हाथ को ऐसा बेकाम करदिया कि दाहिना हाथ फिर कभी ऊपर न जा सका और बीमारी तो बनी ही रही।

मिरज से लौटकर कुछ दिन बम्बई रहा फिर मालूम हुआ कि पूने के पास मळवली स्टेशन से १॥ मैल दूर कार्ला में एक सेनेटोरियम है वहां क्षय के रोगी स्वस्थ हो जाया करते हैं। वहाँ भी रक्खा पर डेढ़ माह तक देखा प्रतिदिन बजन घटता ही जाता था। एकदिन डाक्टर ने एकान्त में लेजाकर मुझसे कहा-आप कहें तो हम इन्हें छः महिने तक यहाँ रक्खें पर असली बात यह है कि रोग अब वश का नहीं है रोगी अगर अच्छी तरह से रहे तो अधिक से अधिक एक वर्ष तक रह सकता है। अन्यथा छः महिने काफी हैं।

मेरा छोटासा कुटुम्ब था इसलिये जब से समझदार हुआ तब से किसी आत्मीय की मौत की कल्पना तक का मौका न आया था। डाक्टर की बात से मेरे मन पर (मुँहपर नहीं) कैसा वज्राघात हुआ इस का अनुभव ही किया जा सकता था।

डाक्टर के सामने अपनी व्याकुलता छिपाने में सफल हुआ बल्कि उसकी स्पष्टवादिता के लिये खूब धन्यवाद भी

दिया, पत्नी के सामने भी व्याकुलता छिपाने की इच्छा हुई पर कुछ तो छिप ही न सकी इसलिये उसे असली बातका आभास मिल गया और कुछ छिपाना उचित भी न समझा इसलिये मैंने भी वह बात साफसाफ प्रगट करदी ।

रात के समय दोनों ही चिरवियोग के निश्चय से बड़ी देर तक रोते रहे । पर इस के बाद मैं सम्हला, मैंने उसे जीवन मरण का रहस्य समझाना शुरू किया । मालूम नहीं उस दिन मैंने क्या क्या कहा पर जो कुछ कहा मुँहने नहीं हृदयने कहा । सबह के पाँच बजे तक मेरा वह व्याख्यान चालू रहा । इस के बाद मैंने देखा कि उस के हृदय से मौत का भय निकल गया है कम से कम इस बीमारी से मरने का डर तो उसे बिल्कुल नहीं रहा है । उस दिन के बाद उस के जीवन में जो उल्लास रहा वह उसकी बीमारी देखते हुये असाधारण कहा जा सकता है । एक बार अस्थिक्षय की एक दूसरी बीमार स्त्री को देखने वह गई, वह स्त्री चल फिर भी नहीं सकती थी, न जाने उसके साथ क्या चर्चा होने लगी जिसके अंत में उस बाईने कहा-- ऐसा करूंगी तो मर जाउंगी । शान्ता को मृत्युभय से बड़ा आश्चर्य हुआ, बोली-- 'क्या तुम मौत से डरती हो? ऐसे दुःखमय जीवन की अपेक्षा मरना क्या बुरा है । मरने से दूसरा शरीर अच्छा ही मिलेगा' उस समय प्रेमी जी आदि भी थे, उसकी निर्भयता से सभी को आश्चर्य हुआ । कालीकी रात की मेरी बातें उसने वेदवाक्य से भी अधिक प्रामाणिक रूप में दिल में जमाली थीं । उनके सहारे से उसने मानों मौत को जीत लिया था । उस को देखकर मुझे इस विचार

का अच्छा प्रमाण मिला कि मौत को जीतने पर ही अच्छी तरह जिया जा सकता है । यही कारण है कि उसदिन के बाद वह जितने दिन जिन्दी रही उल्लास के साथ रही बीमार की मनोवृत्ति लेकर न रही ।

कार्ला के डाक्टर ने जब मौत की पूरी सूचना देदी तब यह सोचकर कि जब मरना है तब घर पर आराम से ही क्यों न मरे, मैं उसे बम्बई ले आया । कार्ला के छोटे से डाक्टर की स्पष्ट-वादिता ने कितना उपकार किया और बम्बई के बड़े बड़े डाक्टरों ने कोई चेतावनी न देकर कितना पाप किया उसकी याद आज भी बनी हुई है और मेरा विचार यह होगया है कि डाक्टरों को डाक्टरी सीखने की जितनी जरूरत है उससे ज्यादा अपने अज्ञान को समझने की, अपने ऊपर अतिविश्वास न करने की, रोगी पर उपेक्षा न करने की उसके पालक को सावधान करने की और ईमानदारी की जरूरत है । यों तो मेरे बहुत से विद्यार्थी भी डाक्टर हैं मित्र भी डाक्टर हैं भले और सहृदय डाक्टरों से भी काम पड़ा है फिर भी बहुत से ऐसे डाक्टरों से काम पड़ा है कि जिनके अनुभवों ने डाक्टर जाति से घृणा सी पैदा करदी है । खासकर सरकारी या सार्वजनिक अस्पतालों के डाक्टरोंके और उनके अस्पतालों के प्रबन्ध के तो बहुत कडुए अनुभव हैं ।

कार्ला से लौटने के थोड़े दिन बाद की बात है, एकबार पिताजी बाजार में शाक भाजी लेने गये और ट्राम के नीचे आगये, उससे वे बेहोश होगये, कन्धे की हड्डी का जोड़ उखड़गया, पुलिस ने लेजाकर उन्हें जे. जे. हास्पटिल में छोड़ दिया । इधर जब वे शाक

लेकर बडी देर तक न आये तब मैं ढूढ़ने निकला, सब मित्रों के घर देखे, पुलिस चौकियों पर तलाश किया कि कोई अकस्मात् हुआ हो तो उसकी रिपोर्ट से कुछ पता लगे, अन्तमें एक चौकी पर पता लगा तदनुसार ढूढ़ते ढूढते दुपहर के एक बजे मिले। वे बेहोश पड़े थे।

जब मैं उनके पलंग के पास पहुँचा तो वहां देखरेख करनेवालों ने तुरंत रोका, कहा-अभी नहीं शामको मिलने आना। मैंने कहा रोगी को यहाँ मैंने भरती नहीं कराया है, ट्राम के नीचे आजाने से पुलिस ले आई है आज के दिन मुझे इनके पास रहने दो फिर इनके होश आजाने पर और व्यवस्था होने पर तुम्हारे नियमानुसार ही मिलने आऊंगा।

उसने कहा-नहीं नहीं, हम कुछ नहीं समझते, शामको आना। मैंने वहां के किसी डाक्टर से बात करना चाही पर उस समय वह भी न मिला और मुझे वहां से चला आना पड़ा। खैर, घर आकर मैंने पत्नी को तथा पड़ौसियों को खबर दी, बाजार से मोसम्मी खरीदी और फिर हास्पटिल पहुंचा। मैंने देखा पिताजी बिलकुल शिथिल हैं अभी भी कुछ कुछ बेहोश हैं, मुंह में से थोड़ा थोड़ा खून आता है पर किसी को कोई पर्वाह नहीं है। मैंने-कहा भाई, इनको सुबह से कुछ दिया नहीं गया है गरम प्रकृति है कुछ मोसम्मी का रस देने दो। पर उन लोगों ने कहा-नहीं, डाक्टर साहिब से पूछे बिना कुछ नहीं कर सकते। नौकरों का कहना ठीक था पर व्यवस्थापक खुद तो कुछ करते नहीं थे, रोगी का सेवक मोसम्मी का रस न पिला जाय सिर्फ इसकी व्यवस्था बाकायदा थी। मैंने डाक्टर से बात की पर सब पिंड छुड़ानेवाले मिले। बोले-हम

कुछ नहीं कह सकते अमुक से पूछो। इस प्रकार अमुक जी से ढिमुक जी और ढिमुक जी से अमुक जी को तपासते तपासते और उन सब को समझाते समझाते एक घंटा लगा तब कहीं मैं मोसम्मी का रस दे पाया। रस देते ही मुंह में से खून आना बन्द हुआ, धीरे धीरे होश आया उनने मुझसे बातें कीं। हास्पटिलवालों की लापर्वाही और बेजिम्मेदारी से और सहानुभूति न होने से पिता जी को सात घंटे तक तकलीफ उठाना पड़ी। इस लापर्वाही से वे मर भी सकते थे। वहां जाकर जो मुझे अनुभव हुए और लोगों से मिलने से जो पता लगा उससे यह कहा जासकता है कि बहुतसे गरीबों के लिये कदाचित् ये मौतके नजदीकी रास्ते हैं।

हास्पटिलों की योजना बड़ी अच्छी और आवश्यक है, पर उनमें काफी सुधार की जरूरत है। रोगी को और उसके पालक को सहानुभूति की बहुत आवश्यकता है, हर एक कार्यकर्ता में वह होना चाहिये, रोगी के संरक्षकों को रोगी की वास्तविक स्थिति से परिचित कराना चाहिये, इनाम देनलेने की प्रथा नष्ट होना चाहिये, चिकित्सा सस्ती से सस्ती होना चाहिये।

आत्मकथा में इन सब बातों के भाष्य करने की जरूरत नहीं है सिर्फ इन सुधारों की तरफ संकेत किया जा सकता है।

कार्ला से लौटकर कुछ मित्रों की सलाह से खासकर कारंजा आश्रम के अधिष्ठाता ब्र. देवचन्दजी की सलाह से जलचिकित्सा का विचार किया। जलचिकित्सा के डाक्टर तो वहां थे नहीं, इसलिये मैंने डाक्टर लुइकोने की जलचिकित्सा का अध्ययन किया

और खुद ही जलचिकित्सा शुरू की । कुछ दिनों में ही बुखार बढ़ना और वजन घटना शुरू होगया (जलचिकित्सा के असर का यह प्रारम्भिक चिन्ह है) बारह पौंड वजन पहिले ही घट गया था आठ पौंड और घटा कुल नव्वे पौंड वजन रह गया । इतने में एक-दिन सूर्यस्नान कराते समय घाव में से पानी की धारा निकलना शुरू हुई । कई मिनिट तक पानी काफी वेग से बहता रहा । मुझे आश्चर्य हुआ, जलचिकित्सा की सफलता का यह चिन्ह था । जलचिकित्सा की क्रियाओं में नाममात्र का मैंने फेरफार भी किया था, क्योंकि डाक्टर लुईकूने जर्मन हैं इसलिये उनने सारी विधि वहां की आबहवा के अनुसार बनाई है मुझे यहां की आब-हवा के अनुसार बनाना चाहिये थी । इससे मैं कुछ हानियों से बचगया और काफी सफल हुआ ।

जलचिकित्सा एक माह ही अच्छी तरह कर पाया अगर उसी ढंग से छः माह कर पाता तो इसमें सन्देह नहीं कि शान्ता की जीवनयात्रा काफी लम्बी हुई होती । पर ज्यों ही तबियत जरा अच्छी हुई कि शान्ता को प्रमाद आगया खानपान का संयम वह न रख सकी मैं भी कुछ ढीला होगया। कामका बोझ सिर पर था ही, इसलिये भी ध्यान कुछ ज्यादा बट गया । फिर भी उससे काफी लाभ हुआ । वजन ९० पौंड से ११२ पर पहुंच गया । अपरेशन में हड्डी का जो भाग कट गया था वह न कटा होता तो हाथ की तकलीफ तो बिलकुल न रहती । पर अब उन सर्वज्ञम्मन्य डाक्टरों से क्या कहा जाय ? खैर, उस टूटी फूटी जलचिकित्सा से भी इतना लाभ हुआ कि शान्ता एक वर्ष के स्थान में पांच वर्ष और जिन्दी रही।

बीमारी का समय, खासकर पहिला वर्ष, मेरे जीवन की कठिन परीक्षा का समय था। उन्हीं दिनों महावीर विद्यालय में नौकरी मिली थी पर छः महीने तक पक्की नहीं थी इसलिये मेरी दूसरी नौकरियाँ (जैन बोर्डिंग, श्राविकाश्रम, जैनप्रकाश की) भी चालू थीं। अपरेशन से शान्ता का हाथ कुछ काम न कर सकता था इसलिये दोबार भोजन कराने और दोबार मोसम्मी आदि का रस देने, अथवा यों कहिये कि स्नेहवश रोगी की बार बार परिचर्या करने चार बार हासपटिल में जाता था। एक बार करीब पन्द्रह दिन कुछ कारणों से ऐसा प्रसंग आया कि उपर्युक्त सब काम करने के अतिरिक्त रोटी *बनाना, पानी भरना, बर्तन मलना कपड़े धोना,* आदि काम भी करने पड़े। फिर इसके साथ था जैनजगत् का सम्पादन और काफ़ी पत्र-व्यवहार और अध्ययन। सुबह चार बजे से रात्रिके दस बजे तक अविश्रान्त परिश्रम और छोटे बड़े सभी तरह के कामों के समुदाय ने जीवन की अच्छी परीक्षा ली, पर इसे सत्येश्वर की असीम कृपा ही समझना चाहिये कि मुझ सरीखा तुच्छ प्राणी उस परीक्षा में यथासम्भव उत्तीर्ण हुआ। इतना ही नहीं कठोर परिस्थितियों का सामना करना सदा के लिये कुछ सहज हो गया बल्कि उसमें आनन्द आने लगा। आज याद आता है कि मिरज़ सरीखे अपरिचित स्थान में शान्ता की परिचर्या के साथ रोटी पकाते तथा अन्य काम करते हुए भी मैं अनेक अच्छे अच्छे लेख लिख सका था। उन्हीं दिनों मैं अच्छी तरह अनुभव कर सका था कि सेवा करते करते या रोटी बनाते बनाते थकने पर लिखने बैठ जाना सेवा का विश्राम है और लिखते

लिखते थकने पर रोटी आदि में लग जाना लिखने का विश्राम है। इस मनोवृत्ति का जो निर्माण हुआ उसे सत्येश्वर की दया न कहूं तो क्या कहूं ? जीवन भर अपनी क्षुद्रता का जो अनुभव किया है उसे देखते हुए अपने पुरुषार्थ को बधाई देने की हिम्मत नहीं होती, और न सत्येश्वर की कृपा के सिवाय कोई महत्ता समझमें आती है।

बजन बढ़जाने पर शान्ता घरगृहस्थी का काम करने लगी पर घाव बने ही रहे, थोड़ी थोड़ी जलचिकित्सा करते जाना तथा घावों को प्रतिदिन साफ करते जाना बस इतना ही काम था इस में मुझे प्रतिदिन एक घंटे से अधिक समय नहीं देना पड़ता था। हां, वाष्पस्नान या सूर्यस्नान के दिन दो घंटे लगजाते थे। इस तरह कई वर्ष चला। अब इतनी सेवा आदत में शुमार हो गई। अड़चन थी तो इतनी कि प्रचार के लिये मैं कहीं अकेला न जा सकता था इसलिये अपनी डाक्टरी की छोटी सी पेटी और शान्ता को साथ लेकर ही मैं प्रचार के लिये निकलता था।

परन्तु सत्यसमाज की स्थापना के बाद जब नौकरी छोड़कर स्थान खोजने की जरूरत मालूम हुई और मेरा कार्य बहुत बढ़गया तब यह घरू डाक्टरी ढीली पड़गई। मैं आठ आठ दस दस दिन के लिये अकेला ही बाहर जाने लगा, फल यह हुआ कि घाव बाहर से भरने लगे। मैं समझा घाव अच्छे होते जा रहे हैं पर उनने अपना श्रोत भीतर की तरफ कर लिया था और मवाद हृदय में एकत्रित होने लगा था पर यह सब मुझे तब न मालूम हुआ।

अन्तिम वार जब मैं दाक्षिण महाराष्ट्र के प्रवास से लौटा तो शान्ता को बीमार और भयंकर सिर दर्द से पीड़ित पाया। दिनरात

सेवा की, बहुत से डाक्टरों को दिखाया, पर किसीकी समझ में न आया कि बीमारी क्या है। किसीने हिस्थीरिया कहा किसीने कुछ। उसके मरनेके बाद ही पता लगा कि अस्थिक्षय से उसका देहान्त हुआ।

मरने के आधे घंटे पहिले तक डाक्टर इतना आश्वासन देते रहे कि मैं कल्पना भी न कर सका कि वह घंटे दो घंटे की मिहमान है। अंतिम समय में ही एक डाक्टर ने कहा She is going (वह जा रही है) तब मैं समझा। इस समय मेरे दिल को अकस्मात् इतना झटका लगा कि थोड़ी देर को मैं शून्य सा बन गया। अगर निराशा धीरे धीरे दी गई होती तो इतना झटका न लगता। खैर, इस तरह दैव के साथ छः वर्ष युद्ध करके भी अंत में मैं परास्त हुआ।

इस पराजय का मेरे ऊपर क्या असर हुआ और मेरे आगामी कार्यक्रम को कितना धक्का लगा और उसे मैंने किस प्रकार सहने का निश्चय किया इसके विषय में मैंने सत्यसन्देश में निम्न-लिखित पंक्तियाँ लिखीं थीं।

"मुझे सन्तान की इच्छा नहीं थी, सौन्दर्य की चाह नहीं थी, अविद्वत्ता को भी निभा सका था, किन्तु उसकी जरूरत थी, क्योंकि उसके रहने से मैं स्त्रीसमाज में निर्भयता से काम कर सकता था, अधिक विश्वसनीय हो सकता था असंयम का भी बिल-कुल भय न था। इसके अतिरिक्त सुख दुःख में एक ऐसा साथी भी था जिसने मेरे जीवन के प्रायः सभी जीवित दिन देखे थे"

"मैं यह तो नहीं मानता कि जो कुछ होता है सब अच्छे के लिये होता है परन्तु इतना अवश्य मानता हूं कि बुरी से बुरी

परिस्थिति में भी मनुष्य अगर अपने साहस और विवेक को जाग्रत रक्खे तो उसे कोई अच्छा मार्ग मिल ही जाता है। मैं भी अपने को इसी कसौटी पर चढ़ाता हूं और इस महान संकट के आने पर भी, जिस मार्ग को पकड़ा है उसी पर आगे बढ़ना चाहता हूं। देखूं कहाँ तक उत्तीर्णता मिलती है और किस ढंग से मिलती है"।

२७ दाम्पत्य के अनुभव

जब मेरा विवाह नहीं हुआ था तब एक दिन एक वयस्क महिला ने मजाक में कहा कि—"जब दरबारीका विवाह होजायगा, तब वह अपनी स्त्रीके ही कहने में लग जायगा।" यह सुनकर मुझे बड़ा अपमान मालूम हुआ और मैंने जोर देकर विरोध किया कि 'कभी नहीं! ऐसा कभी नहीं हो सकता!' एक दूसरी वृद्धाने कहा- हमारा दरबारी ऐसा नहीं है, वह अपनी औरत को सिरपर कभी नहीं चढ़ायगा।' यह सुनकर मुझे संतोष हुआ, और मैंने मन ही मन संकल्प किया कि मैं अपनी स्त्रीको इस तरह दबाकर रक्खूंगा कि सब मेरी तारीफ करें। इस प्रकार मुझ में मूर्ख स्त्रियों द्वारा पुरुषत्व का मद जागृत किया गया। इसका दुष्फल यह हुआ कि जब मेरी पत्नी मेरे घर आई तब मैं तनि दिन तक बोला तक नहीं, वह तो बेचारी माँ बापको छोड़कर मेरे घर आई थी मेरा कर्तव्य उसका स्वागत करना था। परन्तु तीन रात तक वह जमीन पर सोती रही, परन्तु मेरे अहंकाररूपी पशुने मुझ में इतनी निर्दयता भरदी कि मेरे मुँह से एक शब्द भी न निकला। बात सिर्फ इतनी थी कि मैं चाहता था कि वह पहिले बोले। वह बेचारी, छोटी उमर

नया घर, स्त्रियोचित संकोच और लज्जा के मारे नहीं बोलती थी। किसी तरह लोगों ने इसका पता लगा लिया। पर मैं बेदाग निकल गया, उसे ही दबाया गया। चौथे दिन उसे ही बोलना पड़ा। और जब उसने न बोलने का कारण पूछा तो मैंने पूरी बेशर्मी और धृष्टतासे उत्तर दिया कि तुम्हारा कर्तव्य था कि तुम पहिले बोलो! यह कैसी मूढ़ता क्रूरता और नीचता थी! इसका जब जब स्मरण आया है तब तब मैंने अपने को धिक्कारा है। खैर, आजका नवयुवक इतना मूर्ख नहीं होता। परन्तु एक सामान्य बात तो इससे समझ में आती है कि वृद्ध जन मूर्खतावश कैसा अनर्थ करा दिया करते हैं। शायद उनकी यह भावना होती है कि लड़का कहीं अपने हाथ से न निकल जाय, इसलिये वे दाम्पत्य-जीवन के प्रेम में रोड़े अटकाया करते हैं और पहिले से ही इसकी भूमिका बांधने लगते हैं। परन्तु इसका परिणाम दोनों पक्षों को अहितकार होता है। विवाह होनेपर भी मैं पढ़ता था, इसलिये छुट्टियों में ही घर आता था। घर में गरीबी थी; इस प्रकार मेरी पत्नी को न धनका सुख था, न दाम्पत्य-सुख था। घर आनेपर सब वृद्ध स्त्री पुरुष मेरी पत्नी की शिकायतों का ढेर जमा कर दिया करते थे। उनकी इच्छा होती थी कि मैं पत्नी को मारूं। सौभाग्यवश मुझमें इतनी पशुता नहीं थी, इसलिये मैं उनकी शिकायतों को एकान्त में पत्नी के सामने रखता, इस प्रकार धीरे धीरे दोनों तरफ की बातों को समझने की कोशिश करता जिस बातमें वृद्धों का दोष होता उसमें बिलकुल चुप होजाता। वृद्धों को उलहना देकर मैं उन्हें और भी क्षुब्ध न करता था। जिसमें पत्नी का दोष होता, उस बात को

लेकर प्रेम के साथ धीरे धीरे घंटों लेक्चर देता। वह मेरी फिलासफी कितनी समझती थी इसका मैंने विचार नहीं किया। उसे इतना अवश्य माळूम होता था कि मैं उससे प्रेम करता हूँ और प्रेम से ही सुधारना चाहता हूं। इसका जो सुन्दर परिणाम हुआ वह यह कि उसमें धृष्टता नहीं आने पाई। मैं नहीं कहता कि हर एक दम्पति को ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है, कोई कोई तो इससे बिलकल भिन्न दशा में होते हैं, परन्तु हमारी कौटुम्बिक दशा ऐसी है कि दाम्पत्य-जीवन का प्रभात कुहरे से छाया रहता है इसलिये सम्हलकर चलने की ज़रूरत होती है।

यहाँ मैं वृद्धजनों से कह देना चाहता हूं कि आप लोग यह भय निकाल दें कि लड़का हाथ से निकल जायगा। नव-दम्पति को अधिक से अधिक प्रेम और स्वतन्त्रता से रहने दें। खयाल सिर्फ इस बातका रक्खें कि उनके ऊपर कर्तव्यका जो आवश्यक भार है उसे वे फेंक न दें। अगर आपने उनके हृदयों को तोड़ने की कोशिश की, उनके साथ बच्चों की तरह वात्सल्य न दिखलाया तो इससे लड़के का मन आपकी तरफ न आ जायगा। वह अपनी पत्नी को दुष्ट समझकर विरक्त और दुखी हो सकता है, परन्तु आपसे स्नेह नहीं कर सकता। कदाचित् उनमें से कोई दुराचारी भी बन सकता है। यदि ऐसा न हुआ तो प्रतिक्रिया होगी। आप दम्पति के बीचमें जितना अधिक कूदने की कोशिश करेंगे वे उतना ही आपको धकियानेकी कोशिश करेंगे। इससे वधू के मनमें एक प्रकारका वैर जम जायगा, जो कि जीवनव्यापी होगा। कुछ समय बाद जब उसकी शक्ति बढ़ जायगी तब इस वैरका बुरा परिणाम होगा।

सम्भव है कि वधू शिष्टाचार का पालन करती रहे, परन्तु प्राणहीन शरीर की तरह प्रेमहीन शिष्टाचार एक निरर्थक सी वस्तु है। मेरी पत्नी को भी कुछ व्यक्तियों से ऐसा ही वैरभाव हो गया था। वह शिष्टाचार का पालन तो करती थी जिससे मैं उसे कुछ कह न सकूं, परन्तु उसमें स्नेह का रस न रह गया था। वृद्धोंको चाहिये कि वे पुत्र-वधूको बेटी के समान समझें। यह मैं मानता हूं कि बेटी में और बधूमें अन्तर है। परन्तु वह अन्तर अपने और पराये का नहीं है, किन्तु जिम्मेदारी का है। पुत्री के ऊपर घरकी जिम्मेदारी नहीं है, जब कि पुत्रवधू के ऊपर है। इसलिये पुत्रवधूसे काम कराने की चेष्टा करना उचित है। परन्तु यह सब प्रेम से करना चाहिये, और उसके सन्मान का भी काफ़ी खयाल रखना चाहिये क्योंकि वह अमुक अंश में मेहमान भी है। हमारी शक्ति और हमारा अधिकार अधिक से अधिक क्यों न हो परन्तु उससे हम किसी का हृदय नहीं जीत सकते। और हृदय को जीते बिना हमें उससे सुख नहीं मिल सकता। हृदय जीतने के सैकड़ों उपाय नहीं हैं, सिर्फ एक ही उपाय है और उसका नाम है प्रेम। वह किसी भी रूपमें प्रकट क्यों न हो, परन्तु सच्चा होना चाहिये। वृद्धजन जो चाहते हैं वह प्रेम के द्वारा ही पा सकते हैं। वृद्धों को, खासकर वृद्ध नारियों को, इस बातका खयाल रखना चाहिये कि पुत्रवधू के दोष पड़ौसियों से न कहें, उसको निंदित करने का प्रयत्न न करें। भूलों को प्रेम से या अत्यन्त संयत रोषसे सुधारने की कोशिश करें। उससे प्रेम से काम करावें। उससे काम न बनता हो तो सहायता दें, परन्तु अपमान या तिरस्कारपूर्वक उसे हटाकर स्वयं

कार्य करने लगना और पीछे सब के सामने उसकी निंदा करना उचित नहीं। प्रारम्भ का एकाध वर्ष ऐसा समय है जिस पर जीवन भर का भविष्य निर्भर है।

नव-पतियों से मैं कहूँगा कि भूल करके भी पुरुषत्व का घमंड न दिखलाना। पत्नी तुम्हारे घर में मेहमान है और वह माता-पिता स्वजन आदि के वियोग का कष्ट तुम्हारे प्रेम से ही भूल सकती है। उसकी योग्यता की प्रशंसा करना, उसकी रुचि के अनुसार रुचि बनाना तुम्हारा कर्त्तव्य है और दाम्पत्य-सुख के लिये आवश्यक है। हाँ, इस बात का खयाल रखना कि तुम्हारे प्रेम का बल पत्नी में प्रमाद न भर दे, वह अपनी जिम्मेवारीयों से जी न चुराने लगे, गुरुजनों की उपेक्षा या अपमान न करने लगे। ऐसी अवस्था में प्रेम प्रदर्शन की डोर को थोड़ा खींच सकते हो। परन्तु गालियों और हस्तचालनका प्रयोग कभी न करना। इससे उसमें धृष्टता आजायगी और तुम्हारी शक्तियाँ भोथली पड़ जावेंगीं।

नव-पत्नियोंसे मैं कहूँगा कि तुम्हारे लिये घर नया अवश्य है, परन्तु तुम यहाँ मेहमान नहीं हो। अब तो यहाँ ही रानी हो, मालकिन हो, घरकी सुख-शान्तिकी जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है। तुम इस पदके कहाँतक योग्य हो, इसके लिये तुम्हारी परीक्षा होती है, उसे धैर्यसे पार करना होगा। तुम अपने गौरवको मत छोड़ो, परन्तु अहंकार भी मत रक्खो। हो सकता है कि पितृगृह वैभवशाली हो; किन्तु उसके साथ इस नये घरकी तुलना मत करो समझलो कि वह तुम्हारा पूर्वजन्म था। उसके साथ तुलना करके स्वयं दुःखी हो सकती हो, दूसरोंको दुःखी कर सकती हो, थोड़ा

वहुत सहन करना पड़े तो सहन करो, फिर भी प्रेमपूर्वक व्यवहार करो। परिश्रम से जी मत चुराओ। सम्भव है तुमने शिक्षणमें काफी उन्नति की हो; परन्तु शिक्षणका फल आलस्य नहीं है; अकर्मण्यता नहीं है। शारीरिक श्रमसे अपमान नहीं होता, खासकर घर के कामों में तो गौरव ही है। साथ ही स्वास्थ्यरक्षा होती है वह अलग। निश्छल प्रेम और कर्तव्यपरायणता से तुम रूखी रोटियों में अमृत का स्वाद भर सकती हो- नरक को भी स्वर्ग बना सकती हो।

दाम्पत्य-जीवन में कलह का होना स्वाभाविकसा ही है, और कभी कभी तो वह भीषण रूप धारण कर लेता है। इसका कष्ट मुझे काफी भोगना पढ़ा. परन्तु इसका मुख्य कारण मेरी अनुभव शून्यता के साथ पुरुषत्व का मद था। मेरे ऊपर संस्कार ही कुछ ऐसे पड़ गये थे। दूसरे युवकों के संस्कार कामुकता के कारण धुल जाते हैं, परन्तु मेरा अहंकार ऐसा प्रबल था कि कामुकता पर विजय पाकर बैठा रहता था। इससे मुझे और मेरी पत्नी को बड़ी परेशानी उठाना पड़ती थी। मुझमें एक न्यायाधीश सरीखी कठोरता या बेदर्दीपन था। इससे कौटुम्बिक झगड़ों में मैं उसके साथ न्याय करता था, परन्तु जहां दया सहानुभूति आदिकी आवश्यकता होती थी, वहां भी यह न्यायाधीश की कठोरता रहती थी। यही मेरी मूर्खता थी, जिसका दुष्फल बहुत कुछ भोगना पड़ा।

कभी कभी भावावेश इतना भयंकर होता कि मेरे मनमें विचार उठने लगते कि तलाक का रिवाज होता तो तलाक देकर स्वतन्त्र हो जाता। परन्तु तलाक की सुविधा न होने से अन्तमें मन यही कहता कि किसी तरह सुलह होजाय तो बला टले। कभी

कभी यह झगड़ा दो-दो चार-चार दिन तक जाता । परन्तु सुलह करने के सिवाय दूसरा रास्ता ही क्या था ? इसलिये अन्तमें सुलह हो ही जाती । इन अनुभवों से मेरा विचार कुछ ऐसा हो गया कि तलाक की प्रथाको कदापि उत्तेजन न देना चाहिए । उसका परिणाम यह होगा कि जहाँ मेल हो सकता है, वहाँ भी मेल न हो सकेगा । हाँ, पहिले कुछ कारण बताये हैं उनकी बात दूसरी है ।

इन झगड़ों के सिवाय बाकी समय में मेरा दाम्पत्य खूब सुखी था । इन झगड़ों का स्थायी असर न होता था । या यों कहना चाहिये कि मेरी पत्नी इतनी सतर्क थी कि खेद का एक कण भी वह मेरे हृदय में न रहने देती थी—रोकर, हँसकर, विनोदसे, सेवासे, जैसे भी होता वह उसे हटाकर छोड़ती ।

इतने झगड़े होने पर भी निकट से निकट सहवासी यह नहीं जानते थे कि हममें झगड़ा होता है । हम प्रेमी-युगल के नाम से ही विख्यात रहे । इसका कारण यह था कि हम दोनोंने यह नियम बना लिया था कि कोई किसी भी तरह इन झगड़ों की बात बाहर न जानें दे । कभी कभी जब झगड़े में मेरा स्वर जोरदार हो जाता तब मेरी पत्नी मुझे टोकती कि देखो आवाज बाहर जा रही है । झगड़े में मैं और सब बातों की उपेक्षा कर सकता था, परन्तु इसकी उपेक्षा कभी न करता । मेरा स्वर धीमा हो जाता था मैं चुप हो जाता । अगर इसी बीच कोई मिलने आ जाता तो दोनों ही शीघ्र मुँह पोंछकर बिलकुल स्वस्थ होकर हँसते हुये चेहरे से द्वार खोलते आगन्तुक समझता कि हम किसी विनोद में लीन थे । इस प्रकार प्रेमीयुगल के नाम से जो हमारी प्रसिद्धि थी वह हमें प्रेमी बनने के

लिये, झगड़ों को शान्त करने के लिये बहुत प्रेरित करती थी।

दूसरा जो हमारा नियम था, वह यह कि कितना भी झगड़ा हो, परन्तु दोनों को अपना अपना काम करना ही होगा। और समय तो सूचना पाने की आकांक्षा भी की जाती, परन्तु इन दिनों बिना किसी प्रेरणा के काम करना होता। मैं उस दिन बिना कहे ही शाक लाता, बिना कहे ही भोजन करने बैठ जाता; वह भी अपनी ड्यूटी बजाती। अगर मुझे मालूम होता कि वह मेरे भोजन कर लेनेपर भोजन न करेगी तो मैं उसे साथ ही भोजन कराता। दोनों यथाशक्य इस बातका भी खयाल रखते कि किसी ने रोषमें कम तो नहीं खाया है। इस सतर्कताका भी पीछे अच्छा परिणाम होता था।

वास्तव में इन दोनों नियमों का होना बहुत हितकर है। इसीका परिणाम था कि हम दोनों का दाम्पत्य सुखमय था और धीरे धीरे ऐसे झगड़ों की इतिश्री कर सका था। मुझमें अगर अहंकारकी मात्रा कुछ कम होती और उसमें मेरी गम्भीर भावनाओं को समझने की शक्ति होती तो प्रारम्भका यह बखेड़ा भी न होता। इसमें अधिक भूल मेरी ही थी। मुझे उसकी योग्यता देखकर ही आशा करनी चाहिये थी, परन्तु मैं बहुत अधिक आशा करता था। पीछे उसका विकास हुआ; मेरी भूल मैं समझा; तब ये संघर्ष नामशेष हुये। पिछले छः वर्ष वह बीमार रही; तब हम दोनों का स्नेह और भी गहरा हो गया था। मेरी सेवा ने उसके हृदय को और भी अधिक प्रेमी बना दिया था। और उसके दुःखने मेरे हृदय में सहानुभूति

को उभार दिया था । इसलिये इस महान् कष्टमें भी हम दोनों काफी सुखी रह सके थे । सुख वास्तव में भीतर की चीज है । समवेदना में जो सुख है उसकी बराबरी कोई भी भौतिक सुख नहीं कर सकता । हृदय का सिंहासन सोनेके सिंहासन से असंख्यगुणा कीमती है—यह बात नव-दम्पति को ही नहीं किन्तु हरएक व्यक्तिको सदा ध्यानमें रखना चाहिये ।

गृह-प्रबंध के विषय में मेरी पत्नी को स्वराज्य प्राप्त था । मैं उससे बिना पूछे कोई बड़ा खर्च न करता था; ऐसा ही उसका नियम था । कुञ्जियाँ दोनों के पास एक सरीखी थीं । इस स्वतंत्रता से कभी कोई नुकसान नहीं हुआ । मितव्ययता में पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ श्रेष्ठ होती हैं । हां, बहुतसी स्त्रियों में आभूषणप्रेम होता है, परन्तु इसका कारण उनकी शृंगारप्रियता नहीं किन्तु स्त्री-धन बढ़ाने की आकांक्षा है । वे बेचारी आभूषणों के द्वारा ही थोड़ी बहुत सम्पत्ति अपने अधिकार में ला पातीं हैं । वर्तमान दशाको देखते हुए यह क्षन्तव्य है । हां, आभूषणों की आकांक्षा इतनी न बढ़ जाय कि घरकी पूँजी ही खतम हो जाय या आवश्यकता से कम हो जाय, आभूषणों के लिये स्त्रियों को प्रेमके सिवाय दबाव न डालना चाहिये । मेरी पत्नी मुझे समझाकर ही आभूषण बनवाती थी । मुझसे छिपाकर उसने कोई काम नहीं किया ।

यहां मैं पत्नियों से कह देना चाहता हूँ कि वे चोरी से धनका व्यय कदापि न करें । जो कुछ खर्च हो पति-पत्नी की सह-मतिसे हो, तथा आर्थिक शक्ति के अनुरूप हो । इस प्रकार दोनोंको लाभ है । पत्नी स्वामित्वका वास्तविक अनुभव कर सकती है और

पति अधिक निराकुल रह सकता है । दोनों में इससे प्रेमकी मात्रा भी अधिक रहती है ।

इस प्रकार मिलकर खर्च करने में या आर्थिक प्रबंध करने में जो आनन्द है वह लखपति बनकर हजारों खर्च करने में भी नहीं है । सन् १९१९ में जब मैं बनारस में अध्यापक नियुक्त हुआ, उस समय मेरी उम्र १९ वर्ष की थी । पत्नीको साथ ले गया । बड़ी बड़ी उमंगें थीं; परन्तु वेतन था सिर्फ मासिक ३५) । मैं वेतन लाकर पत्नी के हाथ पर रख देता । मेरी पत्नीने और मैंने भी इतने रुपये अपने स्वामित्व में कभी न देखे थे । उन दिनों मँहगाई खूब थी- २॥) सेर घी मिलता था, अनाज वगैरह भी मँहगा था । इतने पर भी मेरी पत्नी मुझे इतना अच्छा भोजन कराती जितना मैंने कभी नहीं किया था । नाटक देखने का दोनों को शौक था । ४) महीना नाटक ही खा जाता । फिर भी वह ५-७ रु. महीने बचा लेती । थोड़े से रुपये थे, इसलिये सारी पूंजी का प्रतिदिन हिसाब लग जाता था । गरीबीमें अमीरीका आनन्द था । यदि आर्थिकसूत्र उसके हाथ में न होता तो यह आनन्द कभी न आता । मैं समझता हूं कि प्रत्येक पतिको ऐसा ही उदार बनना चाहिये और प्रत्येक पत्नी को ईमानदार और निःस्वार्थ बनना चाहिये ।

व्यापार धंधेकी बातों को छोड़कर बाकी अन्य विषयोंमें एक दूसरे के मनकी बातें गुप्त न रखना चाहिये । मेरी पत्नी कहीं की कोई बात हो मुझसे अवश्य कह देती । कहीं पर कोई लड़ाई झगड़ा हुआ या तर्क-वितर्क हुआ हो तो भी वह मुझे सुना देती । मैं इन सब बातों को बिलकुल गुप्त रखता । अगर बातचीत करने में उसकी

कहीं भूल मालूम होती तो स्नेही स्वर में समझाता । इतना कभी न दबाता जिससे भविष्य में उसका हृदय मेरे सामने रहस्य प्रकट करते हुये भय खावे । इससे उसके मानसिक विकास में सहायता तो मिली ही, किंतु दो तन एक मन होने का सुख भी मिला ।

चरित्र का निर्मल होना भी प्रेमसुख के लिये अत्यावश्यक है । जो लोग सौंदर्य से मोहित होकर अपनी स्त्री के प्रति विश्वास-घात करते हैं, वे उसी शाखा को काट रहे हैं जिस पर वे बैठे हैं । ऐसे लोग अपनी पत्नी को दुखी करने के साथ स्वयं भी अशांत और दुखी होते हैं । वे प्रेम का वास्तविक आनन्द नहीं पा सकते । नारी का सुख इन्द्रिय सुख नहीं, हृदय का सुख है । इन्द्रिय-सुख तो हृदय-सुख के लिये सहायक मात्र है । नारी से जो इन्द्रिय-सुख हम पाते हैं, वह अन्य जड़ वस्तुओं के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है; परन्तु हृदय अन्यत्र नहीं मिलता । जो विश्वसनीयता, निश्छल प्रेम, सुख-दुःख सहयोगिता हमें पत्नी में मिल सकती है, वह वेश्या या परस्त्री में नहीं । इसलिये सच्चे आनन्द के लिये भी ईमानदार होना आवश्यक है । यह ईमानदारी हमारी बड़ी से बड़ी निधि थी । इसे असाधारण तो नहीं कह सकते; क्योंकि देश के अधिकांश घरों में यह निधि पाई जाती है, यह देश का सौभाग्य है । परन्तु यह निधि नष्ट न हो जाय इसकी खबरदारी रखना चाहिये । इसका अच्छा उपाय यह है कि व्यापार आदि के आवश्यक कार्यों को छोड़कर पति या पत्नी को अकेले कहीं न रहना चाहिये । खासकर मनोविनोद के लिये तो अकेले कहीं न जाना चाहिये । जीवन में सिर्फ दो-चार अपवादों को छोड़कर मैं कभी

अपनी पत्नी को साथ लिये बिना नाटक - सिनेमा में नहीं गया । किसी दिन मेरी इच्छा होती और उसकी इच्छा न होती तो मैं उसे किसी तरह मनाकर ले जाता या मैं स्वयं न जाता, सिनेमा का समय दोनों गपशप लड़ाने में बिता देते और इस प्रकार जो आनन्द मिलता वह सिनेमा के आनंद से कुछ कम न होता ।

हम दोनों ही एक दूसरे से पूछे बिना बाहर न जाते और नियत समय पर आ जाते । इसमें मानापमान या ऊँच नीचका प्रश्न ही नहीं था किन्तु सुभीते का प्रश्न था । विश्वास भी इसका आनु-षंगिक फल था, जो दाम्पत्य-सुखका मूल है ।

हमारे जीवन में एक त्रुटि रही कि हमारे कोई संतान नहीं थी । आज तो मैं यही सोचता हूँ कि मुझ सरीखे व्यक्ति के अगर संतान न हो तो परम सौभाग्य है । परन्तु पहिले इतना विचार नहीं था । थोड़ी सी पुत्रैषणा थी । मेरी पत्नीको संतान न होनेका बहुत दुःख था, अपने को वह धिक्कारा करती थी । इसके लिये मैं बहुत समझाता था । लोग चर्चा भी करते थे कि मुझे संतान के लिये दूसरा विवाह करना चाहिये--यहाँ तक कि वे लड़कीवालों को तैयार भी कर लेते । मेरे पास चर्चा आती, मैं दृढ़ता से इसका विरोध करता । मेरी पत्नी भी मुझसे अनुरोध करती कि दूसरा विवाह कर लो । मैं झिड़क देता डाँट देता । निःसंदेह वह इस झिड़की को परम सौभाग्य समझती । मेरे ऊपर उसकी श्रद्धा बढ़ जाती । करीब ६ वर्ष पहिले एक लेडी डॉक्टर से मुझे मालूम हुआ कि अगर उसके पेटका ऑपरेशन कराया जाय तो संतान हो सकती है । परंतु

तब वह बीमार हो चुकी थी और इधर जब से 'जैनधर्म का मर्म' लिखना शुरू किया तब से पुत्रैषणा बिलकुल समाप्त हो गई थी। मैं समझता हूं कि संतान के लिये दूसरा विवाह करना नारी के साथ अन्याय तो है ही परंतु दाम्पत्य-जीवन का नाश भी है। ऐसी अवस्था में मनुष्यको दो ही मार्ग हैं—एक तो यह कि वह अपनी सारी सम्पत्ति और सारी शक्ति लोकसेवा में लगा दे; अगर ऐसा न हो सके तो पुत्र गोद ले ले। दूसरा विवाह करना दाम्पत्य स्वर्ग को नरक बनाना और असाधारण मूर्खता है। इतना ही नहीं बल्कि गुनाह बेलज्जत भी है।

शिक्षण के विषय में यही कहना होगा कि मेरी पत्नी शिक्षित नहीं थी। उसने सिर्फ हिन्दी की दूसरी क्लास तक शिक्षा पाई थी। बाद में मैंने जैनधर्म की कुछ शिक्षा दी। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह तक परीक्षा दे सकी; कुछ हिंदीका भी ज्ञान बढ़ाया। हिंदी की पुस्तकें पढ़ा करती थी। इधर दिनरात घरमें विविध विषयों की चर्चा होते रहने तथा प्रवासमें मेरे साथ रहनेसे, व्याख्यान सुनते रहनेसे उसके विचार ठीक होगये थे; वह कुछ बहस भी करने लगी थी। परन्तु जैसा चाहिये वैसा शिक्षण मैं न दे सका। इसका एक कारण तो मेरी अयोग्यता थी। विद्यार्थियों को पढ़ाने में और पत्नी को पढ़ाने में जो अंतर होता है, उससे मैं अनभिज्ञ था। मैं थोड़ेमें ही गरम हो जाता था, इससे उसका उत्साह भग्न हो जाता। जब मैं अपनी इस मूर्खता से परिचित हुआ तब मेरे पास सामाजिक कार्य इतना बढ़ गया था कि मैं पर्याप्त समय इसके लिये नहीं दे सकता था। इधर पिछले ६ वर्ष बीमारीने खा लिये थे। युवकों से मैं कहूंगा कि

इस विषय में उतावली से काम न लें, न उपेक्षा करें। सहनशीलता और उदारता से काम लें। जो लोग सोचते हैं कि उनकी पत्नी पंडिता नहीं है इसलिये वह उनके अयोग्य है, या उनके जीवन के विकास में बाधक है, वे भूलते हैं। शिक्षित पतिके लिये शिक्षित पत्नी हो, यह आवश्यक है। परन्तु दुर्भाग्यवश यदि ऐसा न हो तो उन्हें इस बातका ही खयाल रखना चाहिये कि पत्नी सभ्य और सुसंस्कृत बने। वह लेख न लिख सके और लेक्चर न दे सके, इसमें इतनी हानि नहीं है जितनी कि सभ्यता और संस्कृति के अभाव में। दूसरी शिक्षित स्त्रियों को देखकर अपनी अल्पशिक्षित स्त्री के नाम पर रोने बैठजाना दाम्पत्य पर कुठाराघात करना है। ज्यादह पढ़ी-लिखी न होने पर भी स्त्री में समझदारी तो होती ही है। यदि हम देशोद्धार व समाजसुधार की बातें अशिक्षित कृषकोंको समझाने का दम भर सकते हैं, तो क्या दिनरात अपने सहवास में रहनेवाली पत्नीको हम ये बातें नहीं समझा सकते? जो लोग बुद्धिजीवी हैं उनके लिये शिक्षित पत्नी खूब सहायक हो सकती है, परन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि सुसंस्कृतताके अभाव में कोरी शिक्षितता बाधक होती है। मेरा यह मतलब नहीं है कि स्त्री-शिक्षा का प्रचार न किया जाय, या उपेक्षा की जाय, परन्तु इतना अवश्य है कि शिक्षणकी अल्पता से ही अपने जीवन के विकास में बाधा न समझ ली जाय। म. गाँधीकी पत्नी कुछ सुशिक्षित नहीं थीं, परन्तु इससे म. गाँधीका विकास रुक नहीं गया। मेरा मतलब यही है कि सुसंस्कृति के अभाव में कोरी शिक्षा का कुछ मूल्य नहीं है। जो विकास करनेवाले हैं, वे अशिक्षित स्त्री के साथ भी विकास कर

सकते हैं । हाँ, स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं, शिक्षण का आनन्द उन्हें भी मिलना चाहिये, अपने पैरों पर खड़ी होने का उन्हें भी हक है इसलिये स्त्रीशिक्षा का प्रचार अत्यावश्यक है । विवाह के समय हमें अपनी सहयोगिनी के शिक्षणका भी खयाल रखना चाहिये । परन्तु विवाह के बाद वह जैसी हो उसीमें सन्तुष्ट होकर उसके अनुकूल बनने की और उसे अपने अनुकूल बनाने की कोशिश करनी चाहिये।

यहां मैं नवपत्नियों से भी कहूँगा कि यदि आप लोग प्रेम, आदर और अधिकार चाहती हो तो इसके लिये योग्यता प्राप्त करनी होगी । यदि आप शिक्षित हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि आप आराम करें । जीवनोपयोगी कुछ न कुछ कार्य जैसे पुरुषको करना पड़ता है, वैसे ही आपको भी करना चाहिये । आप सभाओं में जाओ, व्याख्यान दो, लेख लिखो, शास्त्रार्थ करो, यह सब बहुत अच्छा है; परन्तु ये सब काम फुरसत के हैं। गृहप्रबन्ध पहिला काम है, इसके लिये मजदूरी करना पड़े तो भी आप पीछे मत हटो । जो स्त्रियाँ घरका काम तो सब सम्हालती हैं, परन्तु पतिके अनुरूप विचारकता और शिक्षण में आगे नहीं बढ़तीं, वे भूल करती हैं । उनका कर्त्तव्य है कि वे समय निकालकर योग्य बनें; अन्यथा उनके व्यक्तित्वको धक्का लगेगा । आश्चर्य नहीं उनकी गिनती मजदूरिनोंमें हो जाय । पत्नी का अर्थ है मालकिन । जो मालकिन है उसका काम कोरी पंडिताई से या कोरी मजदूरीसे नहीं चल सकता, उसमें दोनों होना चाहिये ।

अब एक बात सुधार के विषय में और कहूँगा । हम लोग उस प्रान्त के हैं जो सुधारकी दृष्टिसे बहुत पिछड़ा हुआ है । पर्दा

और पर्दासे सम्बन्ध रखनेवाले आचार वहां प्रचलित हैं। पोलका पहिनना भी बड़ा फैशन समझा जाता है। हम लोग इन्दौर में आये तो वहां भी यही हाल था। सुधार करने की मेरी इच्छा थी। मैं सुधार के लेख उसे सुनाता जो प्रायः मेरे ही लिखे होते, ऐसी ही चर्चा करके सुधार के प्रति आकांक्षा उत्पन्न करता। जब कुछ भूमिका तैयार हुई तब मैंने पत्नीसे कहा--चलो, आज अपन दोनों हवा खाने चलें। गये तो जँवरीबाग के सभी लोगों को ताज्जुब हुआ। परन्तु मेरा फक्कड़पन सब समझते थे इसलिये कुछ कह न सके। कुछ दिन टीकाटिप्पणी हुई, परन्तु बादमें तो अन्य लोग भी सपत्नीक भ्रमण करने जाने लगे। स्त्रियोंको सुधार बुरा नहीं लगता परन्तु संकुचित वातावरण में रहने तथा शिक्षण के अभाव के कारण टीकाओं का सामना करने में वे डरती हैं। यदि पतिका बल मिले और उन्हें प्रेमसे समझाया जाय तो वे तैयार हो जाती हैं। जब मेरी पत्नी कहीं से शिकायत लाती कि आज अमुक स्त्री ने घूंघट न करने के कारण यह कहा, आभूषणोंके विषय में वह कहा, तब मैं उसे कोई मार्मिक उत्तर बताता जिसका उपयोग करके वह सामना करती। जब कुछ उत्तर न सूझता तब यही कहती कि मुझे अपने घरके आदमी को खुश रखना है, दुनिया को खुश नहीं रखना। मौके बेमौके के लिये ऐसे अनेक उत्तर मैंने सिखा रक्खे थे जिन्हें उसने समझपूर्वक अपना लिया था। मेरे जितने सुधारक विचार हैं उन सबका उसने प्रारम्भ में विरोध किया था, परन्तु मैंने न तो इसके लिये उसे फटकारा, न उपेक्षा की; किन्तु खाते-पीते, चलते-फिरते उसे प्रेमसे समझाया, सरल दलीलों का उपयोग किया, कभी कभी

उसकी भावनाओं को उत्तेजित करके विचारों की छाप मारी। परन्तु यह कभी अनुभव नहीं होने दिया कि मैं दबाता हूं। मैंने सदा यही कहा कि मेरी बात जचे तो मानो, मैं तुम्हारे धर्म में बाधा नहीं डालूंगा। एक तरफ इतनी ढील थी तो दूसरी तरफ अपने विचार उसके कानोंमें डालता ही रहता था। जैनजगत या सत्य-संदेश का स्वाध्याय करना उसका नियम था, न समझने पर भी वह पढ़ती थी। इसका एक कारण यह भी था कि वह मेरी चीज़ थी, इसका भी कुछ प्रभाव पड़ता था। अगर वह न पढ़ती तो मैं ही सुनाता। वह रोटी बनाती मैं लेख सुनाता। 'ये हमारे लिये कितना परिश्रम करते हैं'-इसका भी उसके हृदय पर कुछ प्रभाव पड़ता था।

मतभेद प्रगट करने के विषय में हम दोनों की एक नीति यह थी कि मतभेद आपसमें ही प्रगट किये जांय बाहर प्रगट न किये जांय। विजातीय-विवाह, विधवा-विवाह, मुनियों की आलोचना आदि विषयों में यद्यपि शान्ता एकदम सहमत नहीं हुई परन्तु जब से मैंने इस विषय के आन्दोलन उठाये तब से उसने बाहर विरोध नहीं किया। पीछे तो मेरे सब आन्दोलनों के विषय में उसके विचार मेरे सरीखे ही हो गये। कदाचित् उनके प्रगट करने की दृढ़ता में वह मुझसे पीछे न रही।

एक बार की बात है कि वह अपनी बहिन के यहां ऊमरा [सागर] गई थी, उसी समय वहां शान्तिसागर संघ आया था। उसकी बहिन ने भी मुनियों के लिये भोजन बनाया। संघवालों को पता लग गया कि मेरी पत्नी वहां है। भला संघवाले इस अवसर को कैसे चूक सकते थे? मैं वहां था नहीं, इसलिये इस

अवसर का उपयोग संघवालों ने मेरी पत्नी को अपमानित करने के लिये करना चाहा। सधे हुए ढंग से एक मुनि वहां पहुंचे चौके में कौन कौन है?—इसकी जांच कर मेरी पत्नी को शूद्रजल त्याग या कुछ और प्रतिज्ञा कराना चाही जिसका मैं जैन-जगत में विरोध करता था। मेरी पत्नी ने भी उस बात का विरोध किया। मुनि महाशय इस बात पर अड़ गये कि मैं भोजन नहीं लूंगा। मेरी पत्नी ने निर्भयता से कहा—मैं अनुचित प्रतिज्ञा नहीं कर सकती मुझे ऐसे पुण्य की जरूरत नहीं है आप खुशी से भोजन लीजिये मैं चौके के बाहर चली जाती हूं।

शान्ता की बहिन आदि को यह ना-गवार गुजरा कि मुनि को भोजन कराने के लिये बहिन को चौके के बाहर जाना पड़े इसलिये उनने शान्ता को चौके से बाहर न जाने दिया। मामला टेढ़ा हो गया। सब रिश्तेदार मिहमान और गांववाले जुड़ गये, सब शान्ता को मनाने लगे—बाई, प्रतिज्ञा में क्या हर्ज है? न हो चार आठ दिन के लिये ले लो। शान्ता एक तरफ और बाकी सब दूसरी तरफ, पर उसने दृढ़ता से कहा—जिस प्रतिज्ञा को मैं ठीक नहीं समझती उसे एक दिन के लिये भी क्यों लूं?

अन्त में मुनिमहाशय को बिना आहार लिये ही जाना पड़ा। शान्ता की दृढ़ता को हठ कहकर किसी किसी ने निन्दा भी की, किसी किसी ने तारीफ भी की, पर इन सब बातों की पर्वाह किये बिना वह दृढ़ रही। इस घटना के बाद तो उसकी दृढ़ता और बढ़ गई और जब संघ शाहपुर आया, जहां शान्ता के मातापिता रहते थे, तब वहां भी उसके मातापिता के घर किसी मुनि को आहार नहीं

दिया गया।

इस प्रकार की दृढ़ता का कारण यह था कि मैंने उसके विचारों पर कभी जबर्दस्ती नहीं की। मेरा कहना सिर्फ यह था कि अवसर पर किसी शिष्टाचार का भंग न होना चाहिये और इसका वह बराबर पालन करती थी। फिर मतभेद मिटजाने पर तो कुछ कहने की भी जरूरत नहीं रही थी। चारों वर्णों के लोग मेरे यहां चौके में भोजन कर जाते थे और उसको कोई इतराज नहीं था।

स्त्रियों को सुधार के पथ पर लाने के लिये यही नीति ठीक है कि उनके साथ जबर्दस्ती न जाय और न उनपर उपेक्षा की जाय, धीरे धीरे प्रेमपूर्वक उन्हें समझाया जाय। मनुष्य मात्र के लिये यही नीति उपयोगी है परन्तु स्त्रियों के लिये कुछ विशेष मात्रा में उपयोगी है।

हां, यह भी मानना पड़ता है कि अगर शान्ता में कुछ सहज योग्यता न होती तो मेरी इस नीति से भी कुछ विशेष लाभ न होता। पर इस प्रकार सहजयोग्यतारहित व्यक्ति बहुत कम होते हैं इसलिये साधारणतः यह नीति उपयोगी है।

दाम्पत्य के अनुभव कडुए मीठे अनेक तरह के हैं। मेरे दाम्पत्य का प्रारम्भ ऐसी अवस्था से हुआ था जिसमें अगर बर्बरता न कही जाय तो भी पर्याप्त पशुता थी यह कहा जा सकता है। दम्पति में मारपीट के अवसर आजाना एक तरह की बर्बरता ही है वह मेरे दाम्पत्य में नहीं थी पर मूर्खता काफी थी। धीरे धीरे अनुभवों ने मेरे दाम्पत्य को मनुष्यता के द्वार पर पहुंचा दिया था।

दाम्पत्य में काफी मनुष्यता आगई थी यह कहूं तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

२८ बम्बई से बिदाई

सत्यसमाज की स्थापना के बाद से ही यह विचार दृढ़ हो गया था कि नौकरी करते हुए यह महान कार्य न होगा। कहीं आश्रम बनाकर स्वतन्त्रता से बैठना पड़ेगा। आश्रम कब बनेगा और कैसे बनेगा इसका कुछ निश्चय न होने पर भी उसका नामकरण हो गया था और उसके सत्याश्रम नाम की घोषणा भी कर दी थी और समय असमय उस नाम का उल्लेख भी किया करता था।

पहिले जो पांच वर्ष तक नौकरी करने का विचार किया था उसके पूरे होने में तो देर थी पर दस हजार रुपये जोड़ने की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी। इसलिये जल्दी ही आश्रम के स्थान की तलाश में था पर जैसा जाहिये वैसा स्थान मुझे न मिलसका इसलिये देरी होती गई। शायद एकाध वर्ष और भी निकल जाता पर श्वेताम्बर समाज में भी मेरे विरोध में क्षोभ होने लगा इसलिये सत्याश्रम की स्थापना में कुछ और जल्दी होगई।

मेरी बड़ी नौकरी मूर्त्तिपूजक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के महावीर विद्यालय में थी। यद्यपि जैनधर्ममीमांसा में दोनों सम्प्रदायों की बहुत सी मान्यताओं का विरोध किया गया था पर श्वेताम्बर साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से और समाज-सुधार की दृष्टि से अधिक मसाला था इसलिये दिगम्बरों की अपेक्षा श्वेताम्बरों का

का विरोध कम हुआ था, इस बात को लेकर दिगम्बर समाज के विरोधी विद्वान यह अपवाद लगाया करते थे कि मैं श्वेताम्बरों के टुकड़े खाता हूं इसलिये उनके गीत गाता हूं । एक तरफ मुझपर इस प्रकार आक्रमण करके दिगम्बर जैनों को भड़काया जाता था और दूसरी तरफ श्वेताम्बर समाज को भड़काया जाता था कि मैं कैसा धर्मद्रोही हूं, जैनधर्म को जड़ मूल से उखाड़ रहा हूं, ऐसे आदमी को नौकरी में रखना बड़ा भारी अन्धेर है । इस प्रकार एक बात कहकर मेरे विरोध में दिगम्बर समाज को भड़काया जाता था और उससे उल्टी दूसरी बात कहकर श्वेताम्बर समाज को भड़काया जाता था । एक में मुझे श्वेताम्बरों का गुलाम या पिट्टू कहा जाता था तो दूसरी में उनका विरोधी बताया जाता था ।

मुझे यह खूब ही अनुभव करना पड़ा कि मतभेद मतविरोध तक ही सीमित नहीं रहा वह व्यक्तित्व विरोध बन गया और उसके लिये ईमानदारी भी जरूरी न रही । जिन विरोधियों को मेरी निष्पक्षता का पता था वे भी मुझे श्वेताम्बरों के इशारे पर नाचनेवाला समझते थे, हालां कि अपने विचारों की रक्षा के लिये मैं इन्दोर की नौकरी छोड़ चुका था ।

खैर, अन्त में श्वेताम्बर समाज में क्षोभ बढ़ा, मेरे विरोध में अर्थात् मुझे विद्यालय से हटा देना चाहिये इसके समर्थन में—आन्दोलन होने लगा, मुंबईसमाचार सरीखे सार्वजनिक पत्रमें भी यह चर्चा आने लगी । इस बात को लेकर विद्यालय के प्रधान मंत्रीने जवाब तलब किया । मैंने जवाब दिया कि " जो कुछ मैं कर रहा हूं जैन धर्म को अकाट्य तथा वैज्ञानिक बनाने के लिये कर रहा

हूं। विचारक विद्वानों के द्वारा समाज और साहित्य आगे को बढ़ता है इसलिये समाज का कर्तव्य है कि वह ऐसे विद्वानों को सुविधा दे उत्तेजन दे हर तरह सहायता पहुँचाये, सो यह तो रहा दूर, किन्तु मैं जो मजदूरी करके जीविका चलाता हूँ विचारकता के दंड में जब वह भी मुझसे छीनी जाती है तब मुझे आश्चर्य होता है और समाज के इस दुर्भाग्य पर खेद होता है"।

ठीक ठीक शब्द तो याद नहीं पर भाव यही था। इसका क्या असर हुआ यह नहीं मालूम, हां जरूरी असर न होने पर भी इतना अवश्य हुआ कि फिर मुझसे जवाब-तलब नहीं किया गया कुछ महीनों के लिये क्षोभ दब गया।

पर मेरे विरोधी प्रचारक शान्त न थे, उनकी कृपा से क्षोभ फैलता जाता था और अन्तमें ऐसा भी हुआ कि कमेटीने मुझे अलग करने का प्रस्ताव पास कर लिया पर हुआ इस तरह कि मेरे समर्थक मेम्बरों को पता न लगा। इसलिये इस अनियमित कार्य के विरोध में भी आवाज आने लगी, श्री मोहनलालजी दलीचन्दजी देशाई ने तो इतना जोर लगाया कि कमेटीको प्रस्ताव नाजायज करार देना पड़ा। इस प्रकार मेरे पास स्तीफा देने की सूचना आने के पहिले ही मुझे अलग करने का प्रस्ताव रद्द हो गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं अगर थोड़ा भी जोर लगाता तो महावीर विद्यालय से मेरा सम्बन्ध न टूटता। क्योंकि कुछ मेम्बर मेरे विचारों के समर्थक थे, कुछ मध्यस्थ थे, वे कहते थे कि जब काम खूब अच्छी तरह हो रहा है और शिक्षण काफी ऊँचे दर्जेपर पहुँचा दिया गया है तब ऐसे योग्य परिश्रमी और ईमानदार आदमी

को अलग क्यों करना चाहिये ? अलग करने से सब काम बिगड़ जायगा। अगर मैंने कुछ श्वेताम्बर मुनियों को पढ़ाने की सेवा से इनकार न किया होता, कुछ मेम्बरों के घर जाकर उन्हें अपनी वकालत करने को समझाया होता तो इसमें सन्देह नहीं कि कमेटी में मेरे समर्थकों का काफी बड़ा बहुमत होता, पर सत्यसमाज की स्थापना करने से इस प्रकार अपने गौरव को धक्का लगाने की इच्छा नहीं रह गई थी क्योंकि इससे कुछ अंशों में सत्यसमाज का भी अपमान होता था, साथ ही सत्याश्रम की स्थापना का निश्चय होने से नौकरी की इच्छा नहीं थी, स्थान मिलने पर मैं खुद ही छोड़नेवाला था इसलिये कमेटी की हरकतों को एक दर्शक की तरह देखता था अर्थात् सुनता था। कमेटी के सामने भी मेरी इस लापर्वाही की बात पहुँच गई थी।

प्रस्ताव रद्द होनेपर कमेटी में कुछ दलबन्दी सी हो गई। फिर भी चर्चा कुछ शान्त रही। इतने में मेरी पत्नी का देहान्त हो गया इसलिये शिष्टाचार के कारण भी कुछ महिने यह प्रश्न न उठाया गया। बादमें जब यह प्रश्न उठा तब किसी ने कह दिया कि इस प्रश्नको क्यों उठाते हो--वे खुद ही नौकरी छोड़नेवाले हैं वे अपना स्वतंत्र आश्रम कुछ महीने में बनायेंगे तब उनको अपनी तरफ से अलग करके क्यों बदनामी मोल ली जाय। इस बात पर फिर प्रस्ताव स्थगित रहा।

इसमें सन्देह नहीं कि मुझे नौकरी छोड़ना थी पर अगर न छोड़ना होती तो मेरी स्वतंत्र विचारकता के कारण विद्यालय छुड़ा देता और वास्तव में उसने मुझे अलग ही किया, भले ही शिष्टाचार

ने उसका कोई दूसरा रूप दे दिया हो।

मुझे इस बात की चिन्ता नहीं थी कि मुझे विद्यालय नौकरी से छुड़ा न दे। मेरी समझ से तो मेरे दोनों हाथ लड्डू थे। अगर विद्यालय छुड़ा दे तो अपनी स्वतंत्र विचारकता के लिये अपनी जीविका की एक कुर्बानी और हो जाय, अगर मैं ही चला जाऊँ तो समाज-हित के लिये मेरा यह त्याग हो जाय। तप और त्याग दोनों के लिये मैं तैयार था इसलिये निश्चिन्त था।

हाँ, इतना अनुभव हुआ कि विचारकों और सुधारकों का मार्ग काफी कँटीला है। फकीरी के लिये तैयार हुए बिना इस मार्ग में विशेष सेवा नहीं की जा सकती।

आश्रम के लिये योग्य स्थान ढूँढ़ रहा था पर मिल नहीं पाया था। इधर परिस्थिति ऐसी आ गई थी कि बिना पाये अब गुजर नहीं थी। अब जो भी स्थान मिल जाय वहीं बसना जरूरी हो गया था इसलिये एकबार फिर दौरा किया और घूमते घूमते वर्धा आ पहुँचा। देशभक्त सेठ जमनालालजी बजाज से मेरे विषय में कुछ मित्रोंने पहिले ही कुछ कह दिया था। मैं जब मिला तो सेठजी ने इच्छा व्यक्त की कि मैं वर्धा ही अपना केन्द्र बनाऊँ। उनने यहां रहने के बहुत से फायदे भी सुनाये। संस्था के लिये पांच साल तक ५०) महीना देने या दिलाने का वचन भी दिया। यद्यपि वर्धा मुझे पूरी तरह पसन्द नहीं आया पर दूसरा कोई स्थान मिल नहीं रहा था और बम्बई में बेकार बैठना भी ठीक नहीं था इसलिये वर्धा ही चुन लिया।

मेरे मित्रों की यह इच्छा नहीं थी कि मैं इस प्रकार अर्ध

सन्यास लूँ और जब कि मेरे सामने अपने पुनर्विवाह की समस्या खड़ी थी तब इस प्रकार नौकरी छोड़ना अनुचित ही था । त्यागी जीवन में क्या क्या कठिनाइयाँ आयेंगी इसका चित्रण मित्रों ने किया था और इसमें सन्देह नहीं कि उनका कहना सच था और आज तक के अनुभवों ने उनके शब्दों की ताईद ही की है फ़िर भी मैं नौकरी छोड़ना चाहता था क्योंकि मुझे खुद अपने पर पूरा विश्वास नहीं था ।

मैं सोचता था कि यही वह उम्र है जिसमें मनुष्य अपने जीवन में कुछ विशेष परिवर्तन कर सकता है । कम उम्र में किये गये परिवर्तन अनुभव शून्य होते हैं और अधिक उम्रमें परिवर्तन की इच्छा मिट जाती है । इसलिये मैं डरता था कि अगर कुछ वर्ष और इसी तरह गुजर गये तो सदैव इसी चक्कर में फँसा रहूँगा । सत्याश्रम आदि का स्वप्न देखता हुआ कदाचित् रोता रोता मर जाऊँगा ।

एक बात और थी कि मैं नहीं चाहता था कि मेरा विवाह मेरी २००) मासिक आमदनी को देखकर हो मैं ऐसी ही सहचरी चाहता था जो मेरी फकीरी में प्रसन्नता से साथ दे सके इसलिये मैं विवाह के पहिले ही कुछ कुछ फकीर बन जाना चाहता था इसलिये भी बंबई छोड़ना जरूरी था । इसलिये १ मई १९३६ को बंबई से विदा लेकर वर्धा आ पहुंचा ।

२९ वर्धा आगमन और पितृवियोग

सब सामान लेकर पिताजी के साथ २ मई १९३६ को वर्धा आ गया । वर्धा की परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि उत्साह या

आनन्द होता, एक तरह से अंधेरे में ही कूद पड़ा था। पिताजी समझ ही नहीं पाते थे कि यह सब मैं क्या कर रहा हूँ। फिर भी वे चुपचाप मेरा अनुकरण कर रहे थे। उनका विश्वास था कि मेरे लड़के ने जब बिलकुल गरीबी से छोटी मोटी अमीरी हासिल की, अपढ़ बाप का बेटा होनेपर भी इतनी विद्या पाई तब वह कोई मूर्खता का काम न करेगा।

पिताजी की इच्छा थी कि एक बार घर जाकर सब सामान आदि लेकर या देकर सदा के लिये निश्चिन्त होकर वर्धा पहुँचूं। इसलिये मेरे लिये रसोइया की व्यवस्था हो जाने पर उनने दमोह के लिये प्रस्थान कर दिया। अब मैं बिलकुल अकेला रह गया। वर्धा में गर्मी बहुत थी। यहाँ कोई सत्यसमाजी नहीं था कि कोई कार्यक्रम रखकर समय की उपयोगिता समझकर दिल बहलाता। इसलिये सोचा कि वर्धा में बेकाम की गर्मी खाने की अपेक्षा दिल्ली तरफ घूमकर कुछ काम की गर्मी क्यों न खाऊँ। लौटते समय पिता जी को साथ लेकर जून में वर्धा आ जाऊँगा। इस विचार से मैं दिल्ली पहुँचा वहां से मुजफ्फरनगर गया वहां से मेरठ आया कि बीमारी का तार मिला। मेरा कोई निश्चित पता न होने से तार देर से मिला था इसलिये जब मैं दमोह पहुँचा तब पिताजी का देहान्त हो चुका था। वे मेरे लिये कितने तड़पते रहे और मेरी अनुपस्थिति से उन्हें कितनी वेदना हुई, अन्त समय भी मैं उनके काम न आ सका इसकी काफी चोट दिल को लगी।

उनकी साहुकारी तो उनके साथ गई, बहुत से घनिष्ट लोगों ने भी झूठ कह दिया कि हम रुपये दे चुके। खैर, दस-दस बीस-

बीस रुपये की रकमों की इतनी चिन्ता नहीं थी, पर आज मनुष्य आर्थिक मामलों में किस प्रकार पतित हो गया है और घनिष्ठ लोग भी विश्वासपात्र नहीं रह गये हैं इस बातको लेकर खेद अवश्य हुआ।

पिताजी का बहुतसा सामान था, कुछ इधर उधर दे दिया, कुछ रिश्तेदारों की भेंट हुआ। इस प्रकार घर को निःशेष करके मैं पांच-सात दिन में फिर अमरोहा की तरफ लौटा। वहां प्रचार करके जून के प्रारम्भ में वर्धा आ पहुँचा।

वर्धा का मकान ढंग का नहीं था पर काफी बड़ा था और ऐसा था कि कुछ लोगों की कल्पना थी कि इसमें भूत रहते हैं। मुझे भूतों का डर नहीं था, अगर भूत होते तो मैं उन्हें चाहता, पत्नीवियोग और पितृवियोग के बाद जो मैं उस रात को उस विशाल शून्य गृह में एकाकीपन का अनुभव कर रहा था उसको दूर करने के लिये भूतों की संगति भी बुरी न होती। पर भूतों को क्या गरज थी कि मेरा दिल बहलाने के लिये पधारते।

कहने के लिये तो जनसेवा के लिये जीवन दे दिया था और पत्नीवियोग व पितृवियोग के होने पर भी मैं अपने कर्तव्य से पीछे नहीं लौटा था पर इतना वीतराग न बन सका था कि इस प्रकार के कुटुम्ब-ध्वंस की वेदना मन में भी न आती। ठीक ठीक सहयोगी मिले नहीं थे निकट भविष्य में मिलने की आशा नहीं थी इसलिये पत्नी और पिताजी दोनों की जरूरत माऌम हो रही थी।

पिताजी को कुछ वर्षों तक जीवित देखने की इच्छा के भीतर तो एक प्रकार का अहंकार भी था। शब्दों से नहीं किन्तु जीवन के द्वारा मैं उन्हें बता देना चाहता था कि तुम्हारे रोकते

रोकते भी मैंने पढ़लिखकर जैसे धन और यश कमाया और तुम्हें भी सन्तुष्ट और सुखी किया उसी प्रकार आज नौकरी छोड़कर भी तुम्हें पहिले से अधिक सन्तुष्ट रख सकूँगा ।

यह कितनी प्रच्छन्न और गहरी अहंकार पूजा है । आदमी साधारणतः अपने माता-पिता तथा पुराने परिचितों को अपनी सफलता या उत्कर्ष दिखाना चाहता है उसके मूल में यही अहंकार पूजा रहती है । यह अपरिचितों को दिखाने से उतनी नहीं होती जितनी परिचितों को दिखाने से । अपरिचितों के लिये तो हम शुरू से ही कुछ बड़े दिखाई देते हैं पर माता-पिता आदि ने तो हमारे वे दिन देखे होते हैं जब हम बिलकुल असमर्थ दीन और अपढ़ थे । उनकी नजरों में हमारे विकास की मात्रा अधिक से अधिक दिखती है और फिर कहीं उनकी आशा के अनुरूप या उससे अधिक विकास हुआ तब तो कहना ही क्या है । विकास की मात्रा जो जितनी अधिक देख पाते हैं उन्हीं को अपना उत्कर्ष दिखाने के लिये मन उतना ही अधिक लालायित हुआ करता है, क्योंकि इससे हम अपनी महत्ता का अनुभव अधिक कर पाते हैं । बहुत बुरी न होनेपर भी आखिर यह अहंकार पूजा है । अगर मात्रा या शिष्टाचार का विवेक न रहे तो यह बहुत बुरी भी हो जाती है इससे अपनी क्षुद्रता का परिचय भी मिलता है ।

मनुष्य के परार्थ के भीतर कितने गहरे पटल पर स्वार्थ बैठा हुआ है और ऊंचे से ऊंचे परार्थ में भी किस प्रकार स्वार्थसिद्धि है इसका विचार करने पर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है । मनुष्य के दिल की गहराई असीम है और उसमें एक के बाद एक

इतने विचित्र पर्दे हैं कि उनके भीतर से असली बात देख सकना असंभव सा मालूम होता है । दूसरों के दिलों की बात तो दूर रहे पर अपने दिल की असलियत पहिचानना भी काफी कठिन है इसलिये मनुष्य दूसरों को तो धोखा देता ही है पर अपने को भी कुछ कम धोखा नहीं देता ।

ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य कोरा परार्थ शायद ही कर सकता है । उसके महान से महान परार्थ के भीतर बहुत गहरे जाकर उसकी स्वार्थ-सिद्धि रहती है । इसलिये परार्थ को त्याग कहना परार्थ की स्तुति करना है । इसे मंहगा सौदा कहने की भी जरूरत बहुत कम मालूम होती है यह विवेकपूर्ण सौदा है जो स्वपर-कल्याणकारी है । हां, इतना विवेक बहुत कम में पाया जाता है इसके प्रारम्भ में कुछ त्याग रहता है इसलिये यह दुर्लभ प्रशंसनीय और वंदनीय है ।

खैर, पिताजी को और भी जीवित देखने और उनकी सेवा करने के परार्थ में भी जिस प्रकार स्वार्थ और अहंकार घुसा हुआ था उससे मानव हृदय की जटिलता का बहुत कुछ आभास मिलता है । निःसन्देह मनुष्य को इससे ऊंचा उठना चाहिये, मैं कोशिश भी करता हूं, कभी कभी अमुक अंश में सफलता का आभास भी मिलता है पर पूर्ण सफलता नहीं पासका हूं । अपनी अपूर्णता का खयाल करते हुए यही सोचता हूं कि दूसरों पर अपने नाम पूजा प्रतिष्ठा या जीवन का बोझ न लादूं दूसरों के नैतिक स्वार्थों को धक्का न पहुंचाऊं तो यही सब से बड़ी सफलता है ।

वर्धा आगमन के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता

पंडिता वेणुबाई—

अध्यक्षा— विदर्भमध्यप्रांतीय-जैन-महिला-परिषद

चांदूर अधिवेशन.

[विवाह के पहिले]

क्योंकि वर्षों के अनुभव अभी पूरे नहीं हुए हैं न उन अनुभवों से इतना दूर पहुँच पाया हूँ कि एक दर्शक की तरह उनके विषय में कुछ कह सकूं। इसलिये यह प्रकरण जल्दी समाप्त कर देता हूं।

३० नया संसार

पत्नीवियोग के बाद कुछ दिन तक शोक रहा, फिर एक तरह का वैराग्य आया, एक तो नौकरी आदि छोड़ने का पहिले से निश्चय था फिर यह घटना घटी, दैव ने संन्यास लेने का पूरा योग मिला दिया। मैं सोचने लगा कि अगर यह रंग चार छः महीने चढ़ा रहा और इतने समय तक काम सोता पड़ा रहा तो समझ लूंगा कि वह मर गया है और मैं निश्चिन्तता से कर्मयोगी संन्यासी बन सकता हूँ। पर अट्ठाईस उन्तीस दिन के बाद ही मालूम होगया कि वह मरा नहीं है। सिर्फ सुप्त है और वह आज नहीं तो कल गर्जेगा। तब मैं चौकन्ना हुआ और नये सिरे से इस समस्या पर विचार करने लगा।

उस समय मेरी उम्र छत्तीस वर्ष की थी। दूसरे देशों में यह उम्र जवानी के मध्याह्न के पहिले की है, इस देश में मध्याह्न के बाद की, मेरे लिये मध्याह्न की थी इसलिये इधर और उधर चित्त डाँवाडोल हो रहा था। एक मार्ग यह था कि विवाह न किया जाय काम को दबाने के लिये बाह्य तपस्याएँ कीजाँय, स्त्रीमात्र के संसर्ग से बचा जाय। दूसरा मार्ग यह था कि विवाह किया जाय और पत्नी को भी सत्यसमाज के प्रचार में सहायक बनाया जाय, इस प्रकार स्त्री जाति की तरफ से भी निर्भय रहा जाय। दोनों ही पक्षों

में कुछ कुछ लाभ और कुछ कुछ हानियाँ थीं ।

अविवाहित जीवन बिताने में प्रचार की अधिक सम्भावना थी, जनता की मनोवृत्ति के अनुसार पूजा प्रतिष्ठा भी अधिक मिल सकती थी । पर जिन बाह्य तपस्याओं का महत्त्व मैं कम करना चाहता था उनका ही महत्व बढ़ाना पड़ता या बढ़ जाता, गृहस्थ जीवन में भी साधुता रह सकती है यह पाठ दुनिया भूली हुई है, उसकी यह भूल सुधारने के लिये प्रयत्न न हो पाता, बदनामी के कार्य से बचे रहने पर भी साधारण निमित्त से ही मुझे बदनाम करने का विरोधियों को अवसर मिलता । विवाहित जीवन में ये लाभालाभ बदल गये ।

पर लाभालाभ की बात किनारे रहे, मुख्य बात मनोवृत्ति की ही कहना चाहिये, इसे एक तरह से कमजोरी भी कहा जा सकता है । हां, पर न तो यह अन्याय था न एकान्त से हानिकर, लाभ भी थे ही, इसलिये मैंने विवाह करने का ही निश्चय कर लिया।

पत्नीवियोग में सहानुभूति के जो पत्र आये उनमें चौदह पन्द्रह पत्र कन्याओं के अभिभावकों के थे जिसमें उनने अपनी बेटी या बहिन के साथ शादी करने का प्रस्ताव किया था, बाद में कुछ और सम्बन्ध भी आये । आश्चर्य तो यह है कि इस प्रकार सम्बन्ध करने का प्रस्ताव रखनेवालों में वे लोग भी थे जिनने मेरी सुधारकता को और मुझे सदैव कोसा था, इस बात को लेकर जिनने निन्दा की थी । मेरे इतने विरोधी होनेपर भी मेरे विषय में उनके मनमें इतना सन्मान था इस बात से मुझे आश्चर्य ही हुआ ।

सम्बन्ध तो बीस-बाईस आ गये पर उनमें एक भी सम्बन्ध

ऐसा नहीं था जिसे मैं स्वीकार करता क्योंकि एक को छोड़कर सब के सब सम्बन्ध परवार जाति की कन्याओं के थे, परवार जाति में जन्म लेने के कारण मैं परवार कन्या से शादी करने को तैयार न था, क्योंकि जातिबन्धन तोड़ने के विरोध में मैंने जितना आन्दोलन किया था वह सब निष्फल हो जाता अगर मैं अवसर आनेपर परवार जाति में ही शादी कर लेता। यों भी जाति बन्धन को स्वीकार करना मैं एक तरह का पाप समझता हूँ, इस जातीयता ने नानारूप धारण करके मनुष्य जाति के जैसे टुकड़े टुकड़े किये हैं, मनुष्य हृदय को जिस प्रकार संकुचित पक्षपाती और अन्यायी बनाया है उसे देखते हुए मैं इसे मानव-जाति के लिये एक बड़ा से बड़ा अभिशाप मानता हूँ।

सहचरी के चुनाव-क्षेत्रों का क्रम मैंने इस प्रकार बनाया था—१–दूसरी जाति और दूसरे धर्म की विधवा, २–दूसरी जाति की जैन-विधवा, ३–दूसरी जाति की दूसरे धर्म की कुमारी, ४-दूसरी जाति की जैन कुमारी, ५–परवार जाति की विधवा।

परवार जाति की कुमारी के लिये कोई स्थान नहीं था इसके लिये मैं किसी भी हालत में तैयार न था इसलिये इतने सम्बन्ध आये और व्यर्थ गये।

विजातीय-विवाह और विधवा-विवाह इन दोनों को मैं एक ही साथ सार्थक करना चाहता था, पर अगर ऐसा सम्बन्ध न मिलता तो मैं विधवाविवाह की अपेक्षा विजातीय-विवाह को अधिक पसन्द करता क्योंकि राष्ट्रकी सामाजिक समस्या विधवाविवाह न होने से इतनी जटिल नहीं है जितनी विजातीय-विवाह न होने से है।

पर जाति के बाहर सम्बन्ध करने में मेरे सामने बड़ी कठिनाई आई। क्योंकि वहां परिचय थोड़ा था और जो कोई सम्बन्ध आता था वहां मैं कह देता था कि मैं नौकरी छोड़कर इस प्रकार समाजसेवा के लिये आश्रम बनाने वाला हूँ। इसीसे लोग घबरा जाते थे। पर मैंने निश्चय कर लिया था कि अपनी पूरी परिस्थिति को जताये बिना शादी न करूँगा। इसमें केवल सत्यप्रियता थी सो बात नहीं है किन्तु यह स्वार्थ भी था कि कल कोई बड़ी आशा से आवे और यहां फकीरी बाना पाकर असन्तोष जाहिर करे तो अपने को यह सहन न होगा इसलिये पहिले से ही सारी स्थिति साफ कर देना ठीक है।

विधवा-विवाह की कठिनाइयाँ और ज्यादा थीं। मैं चाहता था कि शिक्षित स्वस्थ और सदाचारिणी विधवा मिले, पर इस देश में अपने विवाह की चर्चा करने के लिये नारी जाति के मुँह प्रायः नहीं होता। और विधवाओं के अभिभावक तबतक चर्चा नहीं करते जबतक उसकी चरित्रहीनता खुल नहीं जाती। और किसी विधवा से इस विषय में बातचीत करना कुछ कम जोखम का काम नहीं है।

पर मेरे लिये विवाह करने की अपेक्षा अधिक जरूरी था विवाह के द्वारा अपनी सुधारकता की सचाई का परिचय देना, इसलिये महीने पर महीने निकलने लगे, मैंने बम्बई भी छोड़ी सत्याश्रम का कार्य बढ़ाना भी शुरू कर दिया पर सम्बन्ध न मिला। मैंने भी निश्चय कर लिया कि सुधारकता को चरितार्थ करने वाले योग्य सम्बन्ध के लिये द्वार बहुत वर्षों तक खुला रहेगा

पर असुधारक और अयोग्य सम्बन्ध न करूंगा।

इस लम्बे समय में काफी अनुभव हुए। मनुष्य के वेष में कैसे कैसे शैतान छिपे रहते हैं इसके भी अनुभव हुए। एक भाई जो विद्वान थे एक स्त्री के साथ मेरी शादी कराना चाहते थे जिसके साथ उनका अनुचित सम्बन्ध था पर जिसे वे अपनी बहिन बताया करते थे।

कुछ समय बाद तो मेरे पास तार आया कि शादी के लिये जल्दी आइये। तार कुछ ऐसे बेमौके से आया था कि उसे पढ़ते ही निश्चय हो गया कि बाई गर्भवती है और तार भेजनेवाले भाई को मैंने लिख दिया कि मुझे तो उस बाई के गर्भवती होने का संदेह है इसलिये मैं पूरा खुलासा होने तक नहीं आ सकता।

तार भेजनेवाले भाई ने पहिले बड़ा कड़ा उलहना लिखा पर दो माह बाद उनने माफी मांगी, क्योंकि उस बाई का गर्भ बिलकुल प्रगट हो गया था। फिर तो वे मित्र भी मेरी तारीफ करने लगे जिनने मेरे मुँह से यह बात सुनकर नाराजी प्रगट की थी कि वह बाई गर्भवती है।

इससे पता लगता है कि पुनर्विवाह के मार्ग में कितनी कठिनाई है। समाज का अन्तस्तल इतना सड़ गया है और रूढ़ियों के कारण उस सड़ांद में हमारी नाक ऐसी चमरनाक हो गई है कि हमें उस दुर्गंध का भान ही नहीं होता है। पर जो स्वच्छता चाहता है उसकी परेशानी है। समाज शुद्धि नहीं चाहता अशुद्धि की गुप्तता या अदृश्यता चाहता है, पर क्या प्लेग के कीड़े इन मोटी आँखों से न दिखने से प्लेग चला जायगा? खैर।

मेरे लिये एक योग्य सम्बन्ध की चर्चा तभी से चल रही थी जब मैं बम्बई में था । श्री वेणुबाईजी (अब वीणादेवी सत्यभक्त) एक बार एक महिला परिषत् की अध्यक्षा हुईं उसमें उनका जो भाषण हुआ उसमें उन्होंने समाज सुधार का ऐसा उग्र समर्थन किया कि वहां परिषत् में आये हुए अनेक विद्वान प्रोफेसर जज आदि को भी आश्चर्य हुआ । उनमें बहुत से मेरे मित्र भी थे । उन मित्रों की इच्छा हुई कि मेरा और वेणुबाई का विवाह हो जाय तो यह सम्बन्ध सब से अच्छा रहेगा । उन्हीं की मार्फत यह सन्देश संकेतरूप में मेरे पास पहुंचा ।

पर पं. वेणुबाई का चरित्र ऐसा उज्ज्वल रहा था कि उनके सामने विवाह का प्रस्ताव कौन रक्खे यही समस्या हो गई इसीलिये यह सम्बन्ध टलता रहा ।

वेणुबाई से मेरा दस वर्ष पहिले का परिचय था । वे सन् २६-२७ में बम्बई के श्राविकाश्रम में पढ़ती रहीं थीं, वहीं से उनने नार्मल पास किया था, संस्कृत परीक्षाएं भी पास की थीं, सर्वार्थसिद्धि और गोम्मटसार तो उनने मुझ से पढ़कर पास किया था मेरी पत्नी स्व. शान्तादेवी के साथ उनका अच्छा स्नेह और सख्यभाव था वेणुबाई और मेरी उम्रमें सिर्फ तीन-चार वर्ष का अन्तर था इसलिये समवयस्कता भी थी, लम्बे अर्से के परिचय से मैं वेणुबाई के शील सदाचार में अटूट विश्वास रखता था, यह सब कुछ था फिर भी डेढ़ वर्ष तक यह सम्बन्ध टलता गया । पहिले तो कुछ दिनों तक इसी-लिये कि यह बात उठाये कौन ? बाद में किसी तरह जब यह प्रश्न सामने आया तो इसलिये यह बात ढीली होगई कि वेणुबाई का

स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था।

पर जब मैं वर्धा आ गया और कई बार मिलने जुलने का अवसर आया तब धीरे धीरे यह प्रश्न सुलझने लगा। और अन्त में मार्च १९३७ में हम दोनों ने ही परस्पर विवाहित होना तय कर लिया। यह सम्बन्ध अनेक दृष्टियों से अच्छा था और अन्य दृष्टियों से उसका अच्छापन कम ज्यादा आदि कैसा भी हो पर पारस्परिक प्रेम और शील की दृष्टि से असाधारण था। शिक्षा सौन्दर्य आदि में इससे अच्छे सम्बन्ध की भी सम्भावना हो सकती थी पर प्रेम और शील के विषय में इससे अच्छे सम्बन्ध की कोई सम्भावना नहीं थी। इस विवाह के विरोध में महात्मा गांधी के पास कुछ लोगों ने चर्चा की क्योंकि मैंने वेणुबाई को दस ग्यारह वर्ष पहिले पढ़ाया था। म. गान्धीजी ने मेरे और म. भगवानदीनजी के साथ इस विषय में काफी चर्चा की और अन्त में इस विवाह की पवित्रता और उचितता के पक्ष में अपनी राय दी।

पहिले तो विवाहोत्सव वर्धा में ही करने का विचार था पर वेणुबाई के भाई बलवन्तरावजी, पन्नालालजी आदि ने विवाह में शामिल होने की स्वीकृति दी इसलिये नागपुर में ही विवाहोत्सव करना निश्चित रहा। जब देशभक्त श्री पूनमचन्दजी रांका के सामने यह बात आई तब उनने इस विवाह को सार्वजनिक उत्सव का रूप दिया। 'दरबारीलाल वीणादेवी विवाह स्वागत समिति' की स्थापना हुई, जिसमें दर्जनों वकील, धारा सभा के मेम्बर, अनेक नेता तथा सरकारी कर्मचारी आदि थे। म. भगवानदीनजी विवाह विधि करानेवाले थे। करीब पांच हजार आदमी उपस्थित थे।

सहभोज आदि की भी योजना की गई थी । सत्यसमाज के बहुत से सदस्य दूर दूर से अपने खर्च से पधारे थे, सब ने इस विवाह को सार्वजनिक रूप दे दिया था । इससे मेरी महत्ता कितनी बढ़ी सो तो मालूम नहीं, दूसरे लोग भी भूल गये होंगे, पर मेरे ऊपर जो समाज को न भूलने के उत्तरदायित्व का बोझ डाला गया वह अभी भी लदा हुआ है । सन्मान देकर मित्रगण छुट्टी पा गये पर मुझे जिस बन्धन में बांधगये वह इस जीवन में शायद ही छूटे ।

अगर जाति में ही शादी होती या कुमारी विवाह होता तब तो मैं एक चोर की तरह चुपकेसे विवाहोत्सव करलेता पर इस विवाह को जो शाही ठाठ से कराया उसका सिर्फ यही मतलब था कि ऐसे सुधारक विवाहों की महत्ता लोग समझें और सहयोग बढ़ावें । कुछ ऐसे भी सुधारक थे जिन्हें मैं अपना यह दृष्टि कोण न समझा सका पर इसे मैंने अपना दुर्भाग्य ही समझा । नीति तो मेरी अभी भी यही है कि विवाहादि उत्सवों में ऐसे खर्च न करना चाहिये जिनका अनुकरण दूसरों को जरूरी हो बैठे और उन की गरीबी उनको लजाने लगे । साधारणतः सादगी ही अपनाना चाहिये पर सुधार के किसी ऐसे कार्य को, जिसका विरोध होता हो पर समाजहित के लिये आवश्यक हो, अधिक से अधिक समारोह के साथ करना चाहिये । हां, हर हालत में असह्य आर्थिक हानि न करना चाहिये न ऋण लेकर उत्सव करना चाहिये ।

मेरे विवाह के समर्थकों में भी ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें सन्देह था कि विवाह हो जाने के बाद कदाचित मैं नये संसार में ही न रम जाऊं और आश्रम आदि का कार्यक्रम कहीं समाप्त न हो जाय ।

सत्यभक्त दम्पति [विवाह के समय]

आश्रम के पास जंगम और स्थावर कोई जायदाद नहीं थी इसलिये बहुत सम्भव था कि आश्रम भाड़ेलू मकान में पड़ा पड़ा अन्त में शून्य में विलीन हो जाता। सत्यमंदिर आदि भी कोरे स्वप्न रह जाते। विवाह के समय ये सब चिन्ताएँ मुझे घेरे हुए थीं, चाहता यह था कि विवाह के अवसर पर कुछ ऐसा चन्दा जमा हो जाय जिससे सत्याश्रम को कुछ अर्थ-शरीर मिल जाय। पर यह कहूं किससे ? संकोच इस बात का हो रहा था कि कोई कहेगा कि अपने विवाह को और भी प्रभावक बनाने के लिये यह सब जाल रचा है। इसलिये किसी से मैं इस विषय में कुछ न कह सका। पर इसकी पूर्ति दूसरे रूप में हो सकती थी कि मैं ही एक अच्छी सी रकम सत्याश्रम को दान कर दूं। जीविका और जीवन तो दिया ही है और बचा हुआ अर्थ आखिर एक दिन समाज के काम में जायगा ही, तब अभी ही क्यों न दानी कहलाने का यश लूट लूं। इस समय का पैसा रुपये से ज्यादा कीमती है यह भी विचार आया।

इस मामलेमें वीणादेवी से अनुमति ली तो उनने भी सहर्ष अनुमति दे दी। सत्याश्रम के लिये कुछ दान तो मैं शान्तिदेवी के वियोग के समय घोषित कर चुका था बाकी कुछ और मिलाकर पांच हजार रुपये का दान घोषित किया। इस रकम से इतना हुआ कि धर्मालय बन गया, प्रेस आगया और मकान के लिये भी कुछ रुपया बच गया। एक तरह से सत्याश्रम को शरीर मिल गया। और आत्मा डालना तो परमात्मा के हाथ में है सो जब उचित होगा तब वही डाल देगा, अगर इस काम में मैं औजार बन गया तो

मेरे जीवन का यह बड़ा से बड़ा सौभाग्य होगा।

नया संसार बसाकर मैंने क्या पाया ? अच्छा रहा या बुरा, इस विषय में इतना ही कहना है कि मुझे इससे बहुत सुविधाएँ ही मिली हैं। मेरी कर्तृत्वशक्ति यद्यपि बहुत तुच्छ है पर वह जितनी है उसमें कुछ कमी नहीं हुई है। विवाहित जीवन से—धर्म अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों जीवार्थों का समन्वय कुछ बढ़ गया है।

यों तो हरएक चीज के दो पहलू हुआ करते हैं। पहिले ही कह चुका हूँ कि कुछ कुछ हानि और कुछ कुछ लाभ दोनों पक्षों में है पर एक बात निश्चित है कि जगत को आदर्श सन्यासियों की अपेक्षा आदर्श गृहस्थों की जरूरत ज्यादा है। सतयुगी नई दुनिया वह होगी जिसमें सन्यासी रहें भले ही, पर समाज को सन्यासियों की जरूरत न रह जायगी। नीतिमान सन्यासी की अपेक्षा नीतिमान गृहस्थ का मूल्य अधिक है। सन्यास अमुक परिस्थिति में अमुक व्यक्ति को आवश्यक होनेपर भी समाज के धारण आदि के लिये गृहस्थ जीवन ही विशेष उपयोगी है। और समाज को धारण करनेवाला ही तो धर्म है।

गृहस्थ जीवन की यह मैं वकालत सी कर रहा हूँ, वह इसलिये नहीं कि मैं साबित करूं कि मैंने जो मार्ग पकड़ा है वह श्रेय होने से पकड़ा है मेरे विषय में तो साफ बात यह है कि मैंने यह मार्ग प्रेय होने से पकड़ा है। हां, कुछ कुछ इतना विचार अवश्य रक्खा है कि श्रेय की हानि या विशेश हानि न होने पाये इसलिये मैं बहुत से बहुत क्षन्तव्य कहा जा सकता हूँ, आदर्श पथ का पथिक नहीं। हां, विशेष अन्तःशुद्धि होनेपर मेरे मार्ग पर चल-

कर भी कोई आदर्शपथ का पथिक हो सकता है ।

गृहस्थ-जीवन की वकालत का यह भी अर्थ न लगाना चाहिये कि म. महावीर, म. बुद्ध और म. ईसा ने जो गृहत्याग का मार्ग पकड़ा था उसमें कणभर भी अनौचित्य था । उनने उस समय की आवश्यकता के अनुसार बिलकुल ठीक मार्ग पकड़ा था, उनका अनुकरण करने वाले बहुत से व्यक्ति भी ठीक मार्ग में थे और आज भी उस मार्ग की उपयोगिता है । जबतक जगत साधुता की आत्मा को नहीं पहिचानता तबतक साधुता के बाहिरी रूपों की जरूरत रहेगी ही । आज भी वह कम नहीं है । कदाचित मुझे भी कभी इस मार्ग पर किसी न किसी रूप में चलना पड़े या दूसरों को चलाना पड़े या चलनेवालों को ढूँढ़ना पड़े ।

मेरे संसार को चाहे कमजोरी समझा जाय चाहे उसमें आदर्श को मूर्तिमान बनाने की भावना के भी कुछ कण मान लिये जाँय पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उसमें श्रेय पर उपेक्षा नहीं है ।

पर अभी गार्हस्थ्य के विषय में मेरा जीवन अधूरा है । यह तो मैं खूब अनुभव कर चुका हूँ कि अगर हम में विवेक हो, प्रमाद न हो, कोई लक्ष्य सामने हो तो हमारी प्रगति में पत्नी बाधा नहीं डालती, योग्य पत्नी को लेकर तो संन्यास भी उसी तरह निभाया जा सकता है, जिस प्रकार दो साधु मिलकर सन्यास निभाते हैं । इस में बाधा पड़ने की संभावना है सन्तान से । सो सौभाग्य से मैं सन्तान के बोझ से मुक्त रहा हूँ - मुक्त हूँ । इसलिये सन्तान वाले गार्हस्थ्य के साथ साधुता का निर्वाह कहां तक किया जा सकता

है—इस विषय में मैं दावे के साथ कुछ नहीं कह सकता क्योंकि इसके पीछे अनुभव का पीठबल नहीं है।

फिर भी भुक्तभोगी के अनुभव न सही, किन्तु एक दर्शक और विचारक के अनुभव से इतना कह सकता हूँ कि मनुष्य अगर चाहे तो सन्तान होने पर भी साधुता का निर्वाह कर सकता है। हज़रत मुहम्मद साहिब आदि इसके आदर्श मौजूद हैं। और समाज का आदर्श युग तो वही होगा जिसमें ससन्तान गार्हस्थ्य-जीवन के साथ साधुता रहेगी।

उपसंहार

इस आत्मकथा में न तो ऐसी कोई घटना आ पाई है जो लोगों को चकित करे, न ऐसी कोई सफलता दिखाई देती है जो लोगों को प्रभावित करे, न जीवन इतनी पवित्रता के शिखर पर पहुंचा है कि लोग उसकी वन्दना करें। इस आत्मकथा का नायक ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसे महात्मा, ज्ञानी, त्यागवीर, दानवीर आदि कहा जा सके। सच छा जाय तो यह साधारण मनुष्य की साधारण कहानी है और इसी में इसकी बड़ी भारी उपयोगिता है। साधारण मनुष्य के जीवन में जब असाधारणता की ओर बढ़ने की इच्छा होती है—वह पवित्र और जनसेवक बनना चाहता है तब उसके जीवन में ऐसी कितनी कठिनाईयाँ आतीं हैं जिन्हें दुनिया देख नहीं पाती—इसका आभास इस आत्मकथा से मिलता है।

यह एक साधारण व्यक्ति की डायरी है इसे पढ़कर साधारण व्यक्तियों के मन में भी कुछ भाव जगेंगे और इस आत्मकथा से

थोड़े बहुत अंशों में यह सीखने की कोशिश करेंगे कि मानव-जीवन में कैसी कैसी मूर्खताएँ भरी पड़ी हैं।

अभी तो मैं उस मार्ग के द्वार पर खड़ा हुआ हूँ जो सन्तों का मार्ग कहा जाता है उस मार्ग में चलने का बड़ा भारी काम बाकी है, पर चलने का निश्चय अवश्य है और यह भी आशा और विश्वास है कि उस मार्ग पर काफी आगे बढ़ सकूंगा। दुनिया को कुछ देने की **कोशिश** करने का दावा तो किया जा सकता है पर कुछ दे सकने का दावा करना मूर्खता है क्योंकि हम जो कुछ देते हैं वह दुनिया लेती ही है—यह नहीं कहा जा सकता, और उसे उसकी जरूरत ही है—इस विषय में हमारी प्रामाणिकता निर्विवाद नहीं हो सकती, पर इन सब बातों के बाद भी यह तो निश्चय किया जा सकता है कि हम दे सकें या नहीं, पर पा सकते हैं। मैं जो कुछ पाना चाहता हूँ वह यह है—

दे मस्त फकीरी वह जिससे शाहों की भी पर्वाह न हो।
मैं भी न किसी का शाह बनूं, मेरा भी कोई शाह न हो ॥१॥
दुनिया दौलत में मस्त रहे, मैं मस्त रहूं तुझको पाकर।
निर्धनता की ज्वालाओं से तिलभर भी दिलमें दाह न हो ॥२॥
घर घर में मैं पाऊं पूजा या घर घर में अपमान मिले।
दोनों में ही मुसकान रहे, मन के भी भीतर आह न हो ॥३॥
परके दुखमें रोऊं जी भर पर अपना दुख न रुला पाये।
परसुखको अपना सुख समझूं सुखियोंसे मनमें डाह न हो ॥४॥
सब रंग रहें इस जीवन में पर मैल न मन में आ पावे।
विचरे मन जीवन के वनमें पर पलभर भी गुमराह न हो ॥५॥

और—

चाह नहीं राजा बन जाऊँ या दुनिया के सिर का फूल।
चाह यही है सब में मिलकर मेरा तेरा जाऊँ भूल ॥
सारी दुनिया देश बनाऊँ, बनूं विश्वहित के अनुकूल।
जिस पथ से मानवता आवे उस पथ की बन जाऊँ धूल ॥

अगर इस चाह का थोड़ा बहुत अंश सफल हो गया तो एक साधारण मानव जीवन की असाधारण सफलता कही जा सकती है। उस दिन मैं अपने जीवन को सफल समझूंगा जिस दिन सिर्फ मुँह से नहीं किन्तु मन से, पंडिताई के बलपर नहीं--अनुभव के बलपर यह गा सकूँगा।

मैंने प्रभुका दर्शन पाया।

परमेश्वर अल्लाह गॉड का भाषा भेद भुलाया ॥
मैंने प्रभुका दर्शन पाया ॥ १ ॥

मन्दिर मसजिद गिरजाघर में दिखी उसीकी छाया।
पूजापाठ नमाज प्रार्थना सब को एक बनाया ॥
मैंने प्रभुका दर्शन पाया ॥ २ ॥

हिन्दू मुसलमान ईसाई एक हुई सब माया।
बिछुड़े थे सदियों से भाई सब को गले लगाया ॥
मैंने प्रभुका दर्शन पाया ॥ ३ ॥

रंग राष्ट्र पुर प्रान्त जाति का सब मद दूर हटाया।
मानवता छाई रग रग में भेदभाव विसराया ॥
मैंने प्रभुका दर्शन पाया ॥ ४ ॥

सुख-दुख शत्रु-मित्र जो आये मैं सब में मुसकाया।

चतुर खिलाड़ी बन कर खेला खुलकर खेल दिखाया ।

मैंने प्रभुका दर्शन पाया ॥ ५ ॥

सत्य अहिंसा के चरणों को चूम चूम मस्ताया ।

हुई नई दुनिया अब मेरी मेरा सतयुग आया ॥

मैंने प्रभुका दर्शन पाया ॥ ६ ॥

इस गीत को गाने का आज मैं कितना अधिकारी हूँ नहीं कह सकता, पर मुझे विश्वास है कि एक दिन गा सकूँगा ।

सत्यभक्त-साहित्य

जीवन की, समाज की, धर्म की और देश विदेश की प्रायः सभी समस्याओं को सुलझानेवाले मौलिक विचार । गद्यपद्य, नाटक, कथा, आदि अनेक ढंग से बुद्धि और मन पर असाधारण प्रभाव डालनेवाला साहित्य । एकबार अवश्य स्वाध्याय कीजिये ।

१. **सत्यामृत**-- मानवधर्मशास्त्र [दृष्टिकांड] मूल्य....१।)

अपने और जगत के जीवनको सुखी बनाने के लिये, सत्य पाने केलिये जीवन को कैसा बनाना चाहिये, जीवन कैसे और कितने तरहके होते हैं, धर्म जाति आदि का समभाव कैसे व्यावहारिक बन सकता है आदि का मौलिक विवेचन विस्तार से किया गया है। इस महाशास्त्र का स्वाध्याय अवश्य कीजिये ।

२. **कृष्णगीता**--मूल्य बारह आना ।

श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवादरूप होनेपर भी चौदह अध्याय की यह गीता भगवद्गीता से बिलकुल स्वतन्त्र है । कर्मयोग के सन्देश के साथ इसमें धर्मसमभाव जातिसमभाव नरनारीसमभाव अहिंसादिव्रत, पुरुषार्थ, कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय आदिका बड़ा अच्छा विवेचन किया गया है । विविध छन्दों में ९५८ पद्य हैं जिनमें बहुत से मनोहर गीत भी हैं ।

३. **निरतिवाद**--मूल्य छः आना ।

साम्यवाद और पूंजीवाद के अतिवादों से बचाकर निकाला गया बीच का मार्ग । साथ ही विश्वकी सामाजिक धार्मिक राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने की व्यावहारिक योजना ।

४. सत्य संगीत– मूल्य दस आना ।

भ. सत्य, भ. अहिंसा, राम कृष्ण महावीर बुद्ध ईसा मुहम्मद आदि महात्माओंकी प्रार्थनाएँ अनेक भावनागीत तथा भावपूर्ण कविताओं का संग्रह ।

५. जैनधर्ममीमांसा (भाग १)--मूल्य १)

तीन बड़े बड़े अध्यायोंमें धर्म की विस्तृत और मौलिक व्याख्या, महावीर स्वामी का बुद्धिसंगत विस्तृत जीवन चरित्र, अतिशयों आदि का वास्तविक मर्म, जैनधर्म और उसके सम्प्रदाय उपसम्प्रदायों का और निन्हवों का इतिहास, सम्यक्दर्शन के आठ अंग तथा अन्य चिन्हों का समभावी और नये दृष्टिकोण से विस्तृत वर्णन ।

६. जैनधर्ममीमांसा (भाग २)–मूल्य १॥)

इसमें सर्वज्ञताकी वास्तविक व्याख्या, उसका इतिहास, प्रचलित मान्यताओंकी आलोचना, मति आदि पांचों ज्ञानोंका विशाल वर्णन, उनका मर्मदर्शन, संक्षेपमें ज्ञान के विषयको लेकर युक्ति और शास्त्रके आधार पर किया गया विशाल मौलिक और वैज्ञानिक अभूतपूर्व विवेचन है, कठिन से कठिन विषय बड़ी सरलता से समझाया गया है ।

७. शीलवती--मूल्य एक आना ।

वेश्याओं के जीवन में भी सतीत्व लानेवाली, उनके जीवन को ऊंचे उठानेवाली एक योजना जो कि एक वेश्याकुमारी के साथ चर्चारूप में बताई गई है ।

८. विवाह-पद्धति--मूल्य एक आना ।

सप्तपदी, भाँवर, मंगलाष्टक मंगलाचरण आदि के सुन्दर पद्य सबको समझ में आनेवाली एक नयी विवाह पद्धति. इस पद्धति से

अनेक विवाह हुए हैं और विरोधी दर्शकों ने भी इसकी सराहना की है। पूरी विधि हिन्दी में ही है।

९. **सत्यसमाज** और **प्रार्थना**--मूल्य एक आना।

प्रतिदिन सुबह शाम पढ़ने योग्य प्रार्थनाएँ, सत्यसमाज के विषय में शंका समाधान और नियमावली।

१०. **नागयज्ञ** (नाटक)--मूल्य आठ आना।

भारत के आर्य और नागों का परस्पर द्वंद, उसका हल, और अन्त में दोनों का मेल; एक ऐतिहासिक कथानक को लेकर अनेकरसपूर्ण चित्रण के द्वारा बताया गया है।

एक लम्बी प्रस्तावना में हिन्दू मुसलमानों के झगड़ों के कारण और उनको दूर करने का उपाय भी बताया गया है।

११. **हिन्दूमुस्लिम-मेल**--मूल्य डेढ़ आना।

हिन्दू मुसलमानों में जिन जिन बातोंपर झगड़ा है उनका मर्म क्या है और किस तरह दोनों की भलाई हो सकती है दोनों की धार्मिक सामाजिक और राजनैतिक समस्या किस तरह सुलझ सकती है इसका अच्छा विवेचन है। यह पुस्तक घर घर पहुँचना चाहिये जिस से भारत संगठित और अविच्छेद्य बन सके।

१२ **आत्म कथा**--मूल्य सवा रुपया।

सत्यसमाज के संस्थापक स्वामी सत्यभक्त जी की विस्तृत आत्मकथा जिसे पढ़ने से जीवन की कितनी ही कठिनाइयाँ हल हो सकती हैं और जीवन निर्माण की कुञ्जी मिल सकती है।

१३. **निर्मल-योग-सन्देश**--मूल्य दो पैसा।

पं. सूरजचन्द जी डाँगी रचित एक कीर्तन संगीत।

निम्नलिखित ग्रंथ छप रहे हैं:—

१४. **सत्यामृत** (आचार-कांड)--मूल्य करीब १।)

अहिंसा सत्य आदि का मौलिक और विस्तारपूर्ण विवेचन, आचार सम्बन्धी प्रायः सभी बातों का विवेचन करनेवाला एक मौलिक महा शास्त्र।

१५. **जैनधर्ममीमांसा** (भाग ३)-मूल्य करीब १॥)

इसमें सम्यक् चारित्रका, साधु संस्था के नियमों का, उसके आधुनिक रूप का गुणस्थान आदि का नयी दृष्टिसे जैन शब्दों में विवेचन किया गया है।

इसके बाद स्वामी सत्यभक्तजी का विशाल कथा साहित्य तथा बुद्ध-हृदय आदि अन्य साहित्य छपेगा।

सत्याश्रम, वर्धा [सी. पी.]

[ये पुस्तकें **हिंदी-ग्रन्थ-रत्नाकर**, हीराबाग, गिरगांव, **बम्बई** से भी मिलेंगी।]